

: ख :

पुस्तक की भाषा और शैली पर भी ध्यान जाये बिना नहीं रहता, वह इतनी मौलिक और इतनी ताज़ा है। भाषा पर इधर बड़ा बुद्धि-भेद रहा है। बहुतों को टटोल रही है भाषा के उस नमूने की जिसमें हिन्दुस्तान की जिन्दगी का अक्स हो और जो सही-सच्ची राष्ट्र की भाषा हो। मेरे ख्याल में वह नमूना कहीं है तो यहाँ है।

दरियागंज, दिल्ली
६ अप्रैल, १९४८

जिनेरु कुमाँ

क्या कहाँ

पहला खण्ड	पृष्ठ
१. आत्मा की आज्ञादी	१
२. काम करो, सोच मे न पड़े रहो	१६
३. बुराई-भलाई के आँकड़े	२१
४. स्वतन्त्र राय और सदिच्छाएँ	२८
५. धीरता और वीरता	३५
६. सुख की राह	४२
७. अहंकार छोड़ो	५०
८. कावलियत बनाम चापलूसी	५५
९. जिन्दगी के बुनियादी उसूल	६०
१०. जवानो, अब ?	७६
११. उदासी को यों भगाओ	८५
१२. काम की काहिली	९२
१३. आकतों से भिड़न्त	९६

दूसरा खण्ड

१. विश्वास	१०८-१३०
(अ) विश्वास	१०८

(आ) विश्वास की क्लिस्में	११२
(इ) सच्चा विश्वास	१२२
(ई) अन्ध-विश्वास	१२५
(उ) विश्वास का चमत्कार	१३०
२. सच्चे सुख का सार	१३४
३. सच्चा, इनाम और होड़	१५८
४. सुख-सड़क के सूत	१७४
५. डरे वह जवान कैसा ?	१९७
६. बदलते डर कैसा ?	२०७



ज वा नो !

: १ :

आत्मा की आजादी

आज तुमने खूब काम किया है, इतना कि बदन थककर चूर हो गया है। किया है, तो ठीक किया है। काम कर डालने की खुशी भी है, पर वह निकल तो पा ही नहीं रही, उसको दवाकर बैठ गई हैं अनेकों चुडैलें, घर की औरते नहीं, वे भूत की बहनें भी नहीं, जो आदमी के अनगढ़ दिमाग ने गढ़ रखी हैं। वह हैं चिन्ता चुडैलें ! चिन्ताएँ किस बात की ?—यही नोन-तेल-लकड़ी की। जवानी का नक्शा-खींचते समय किसी गाँव के कवि ने ठीक ही कहा है :—

भूल गये राग-रंग, भूल गये छकड़ी।

तीन चीज याद रहीं, नोन-तेल लकड़ी।”

हाँ, वे चुडैलें बेशक घेरे हुए हैं। क्या वे सबको घेरे हुए हैं ? नहीं, सबको तो नहीं, पर बड़ों को। कुछ को विलकुल नहीं ? तुम उन कुछ में शामिल क्यों नहीं हो जाते ? तुम उन बड़ों की क्यों नकल करते हो, जो चुडैलों से आँख लड़ा बैठे हैं ? वे चुडैलें हैं, सही, पर वे बिना बुलाये नहीं आती। जो नहीं बुलाता, उसके पास नहीं फटकतीं। इतना ही नहीं, उससे कतराती रहती हैं, उससे बचकर निकलती हैं, उससे उन्हें डर लगता है, उनको उसमें से आग निकलती मालूम होती है, उन्हें उसके पास

जाकर जल मरने का डर रहता है। किसी भारतीय विद्वान् ने 'शंका भूत और मनसा डायन' वाला सूत्र कहकर गागर में सागर भर दिया है। चिन्ताएँ अपने-आप कुछ हैं ही नहीं, वे तुम्हारे मन की गढ़ी हुई हैं, और तुम बने हुए हो मन के गुलाम! मन-मालिक के दुःख में तुम-गुलाम को दुखी होना ही पड़ता है। बनो तुम मन के मालिक। फिर वे चुड़ैले तुम्हारा कुछ नहीं विगाड़ सकेगी। मन में रहते भले ही मन को सताती रहे, पर तुम्हारा कर कुछ भी नहीं सकेगी। गुलाम की तकलीफ़ों का असर मालिक पर बहुत कम हुआ करता है, कभी-कभी तो बिलकुल भी नहीं।

तुम सोच रहे होगे-कि क्या बात कही जा रही है? मैंने कोई चुड़ैल तैयार नहीं की। रही मन की गुलामी की बात, सो दुनिया में निर्यानवे प्रतिशत का यही हाल है, कुछ मैं ही अनोखा नहीं हूँ। मन पर अधिकार कुछ इने-गिने साधु ही जमा सकते हैं, गृहस्थ ऐसा नहीं कर सकते। मैं गृहस्थ बनना चाहता हूँ। साधु बनना होता तो मुझे किसी नसीहत की जरूरत नहीं थी। मैं आप ही सैकड़ों को सलाह बता देता। "पर उपदेश कुशल सब कोई?"

ठीक, बिलकुल ठीक। मैं तुमको न साधु बनाना चाहता हूँ और न परमार्थी। मुझे तो परमार्थ भी स्वार्थ में छिपा बैठा दिखाई देता है, स्वार्थी तो बनोगे? मैं तो तुमको उस बीज का पता दे देना चाहता हूँ, जो तुम्हारे मन में जड़ पकड़ कर बड़ा होता रहता है, और कुछ ही दिनों में चिन्ता-फलों की फसल पैदा कर डालता है। उस बीज को गला डालो, पेड़ न उगेगा। 'न होगा बॉन, न बजेगा बॉसुरी।' गलाने में थोड़ी तकलीफ़ तो होगी, पर बहुत आराम के लिए उसे सहन करना ही होगा। फोड़ा चिरवाकर दुनिया आराम का उपभोग कर रही है, तो पारा-सी तकलीफ़ से क्यों डरते हो? डर आप ही कौन कम तकलीफ़ वाली चीज़ है? डर की तकलीफ़ उस तकलीफ़ से कहीं ज्यादा बजनी मिलेगी, जिम तकलीफ़ को बरदाश्त करने की बात मैं आपको बतलाने वाला हूँ।

आत्मा की आज्ञादी

यह याद रहे कि सिरजन शक्ति, यानी कुञ्जकर डालने की ताकत, चिन्ताओं के बोझ से टन्नकर बुडबुडाने में नहीं रहती। वह चिन्तनशीलता में है, चिन्तित अवस्था में नहीं। चिन्ता करना, और चिन्ता में फँसना— दो अलग चीजें हैं, सोचना, सोच में पडना नहीं है, अन्तर है। जब हम किसी आफत में हो और जान-बूझकर किसी कोने में बैठकर उस आफत से निकलने का रास्ता ढूँढ़ निकालने की सोचने लगे, तो वह कहलायेगा चिन्ता करना या सोचना; और किसी आफत में पडकर हम धबकाकर 'हाय मरे, हाय मरे' करने लगे, या यह कि 'अब क्या होगा, अब क्या होंगे' की फिक्र में पड जायँ, तो यह कहलायेगा 'चिन्ता में फँसना या सोच में पडना।' एक में चिन्ता हमारे बस में होती है, वह हमारी दासी होती है, हमारा हाथ बँटाती है, काम की होती है। दूसरे में वह हम पर सवार रहती है, हम उसके ढास होते हैं, वह हमारी कमर तोड देती है, तभी 'हम उसको 'चुडैल' कहकर पुकारते हैं। इस चुडैल के बस में रहकर जो-कुछ हम करते हैं, वह उसका काम होता है; हमारा तो धीरे-धीरे वह काम ही तमीम कर डालती है, हमको वह बेढब तरीके से चूसती है, हमको उससे चूसे जाने का पता तक नहीं चलता, पर जब वह हमारी दासी बनकर काम करती है तब उसका सारा काम हमारा काम हो जाता है। वह हमारे सिरजन में सहायक बन जाती है, हमसे हमारा काम ही नहीं, समाज का भी काम करा लेती है। चिन्ता-चेरी से नहीं, बचना है हमें चिन्ता-चुडैल की चालों से। 'चिन्ता' नाम से स्त्री जँचती है, वह है भी स्त्री ('स्त्री' शब्द यहाँ कायरता की तरफ इशारा करता है, स्त्री-रूप धारी मानव की तरफ नहीं)। दुर्गावती, लक्ष्मीबाई, पार्वती, सीता स्त्रियों नहीं थीं। आर्क की जोन भी स्त्री नहीं थी। आज सरोजनी नायडू भी स्त्री नहीं है। सैकड़ों जाटनियों और गोरखने भी स्त्रियों नहीं हैं। रूस में तो स्त्रियाँ ढूँढ़ने से दो-चार ही मिलेगी। गरज यह कि जो कायर वह स्त्री, चाहे वह फिर मर्द ही क्यों न हो। खैर, चिन्ता कायरता है, वह कायरो में ही रहती है, बहादुरों में नहीं।

बताइये, आप अपनी शुमार किसमें करते हैं ? कायरों-में अपना नाम लिखाकर आप आफतों से बचना भी चाहे तो नहीं बच सकते । लेंडी कुत्ता पूँछ टबाकर दो-चार जख्मों से छुटकारा पा सकता है, पर डरने-सिकुड़ने से नहीं । कायरता का धर्म है डरना । डर का धर्म है सिकुड़ना । सिकुड़ने का धर्म है बिना मौत मरना । अब कहिए, आप क्या कहते हैं-? पूँछ उठाकर दो-चार जख्म खाना-खिलाना पसन्द करते है, या मरना पसन्द करते हैं ? अगर आप हिन्दू हैं, तो मरने के बाद फिर जीना है और अगर आप मुसलमान है; तो आक़वत में दोजख की आग में जलना है । छुटकारे से छुटकारा नहीं मिलेगा, बन्धनों में कुछ बदन फुला बन्धन तोड़कर हो छुटकारा नसीब होगा ।

आइए, अब उन्ही बन्धनों को समझ ले, और यह भी समझ लें कि उनको किस तरह तोड़ना होगा ।

(१) जिस काम में हम लगे हुए हैं, अगर उसमें हम जबरदस्ती लगाये गए हैं—फिर चाहे उसमें हमें हमारे कमीने पेट ने लगाया हो या रिश्तेदारों ने, उसमें लगे नहीं रहेगे, उसमें लगे चैन मारें यह तो एक और ।

उपाय ? तद्वीर ।

अपने को अकेला समझो, अकेला ।

हस्तिनापुर (मेरठ) के जंगल में मेरे पास एक घोड़ी थी । कभी-कभी वह रस्ता तुड़ाकर भाग जाती थी । दिन-भर जंगल में चरती, रात को डर के मारे आश्रम के फाटक पर आ खड़ी होती । दो दिन के बाद रात का आना भी बन्द हो जाता । फिर दिनों गायब रहती । पन्द्रह-बीस दिन के बाद मवेशीखाने में इतनी मोटी मिलती कि उसके लिए यह फहना भिन्नक से खाली न होता कि यह वही मग्नियल घोड़ी है । आपका भी यही हाल होगा । उर से आपका जो अपनापा हो गया है, वह अपने पाँव पर खड़े होने से ही जायगा ।

(२) उन जिम्मेदारियों के बोझ को सिर से उतारकर फेंक दो,

आत्मा की आज़ादी

जिन्होंने तुम्हारी उपयोगिता को दबा रखा है, या कुचल डाला है। तुम जो बनना चाहते थे, उसकी याद तक को, उन जिम्मेदारियों ने हड़प कर लिया है।

यह किस तरह ?

भिन्नक है, उसे छोड़ो। उतारकर बोझा फेंको तो, हलके हों जाओगे। हलके होकर वह तटबीर पूछने की जरूरत ही न रह जायगी।

(३) उन हट्टे-कट्टे निठल्लो को खिलाना छोड़ दो, जिनकी वजह से तुमको अपनी ताकत से ज़्यादा काम करना पड़ता है।

यह क्योंकर ?

उनके हट्टे-कट्टेपन पर नज़र डाल जाओ तो तुमको पता लगेगा कि तुम उनका भला न कर, बुरा ही कर रहे हो। तुम्हारे भरोसे वे अपने बल का उपयोग ही नहीं करते। अपनी ताकत से काम न लेना बढहजामी पैदा करता है। बढहजामी बीमारी, और बीमारी मौत। इस मौत के जिम्मेदार तुम।

(४) अपनी जरूरतों की कतर-ब्योत से रिवाजों का पेट न भरो। यह तो मुश्किल है। मुश्किल नहीं, आसान है। यह देखने में मुश्किल, और करने में आसान है। इसको छोड़ते ही तुम्हारी ताकत बढ़ जायगी और समाज के लिहाज से भी तुम ज़्यादा काम के आदमी बन जाओगे।

(५) आखिरी बात, पर सबसे जरूरी। जबरदस्ती जिसको तुम अपना मालिक, हाकिम या गुरु मान बैठे हो, उसे वैसा मानना छोड़ दो।

यह सुनकर जी फडक उठा, यह तो आपने मनचाही बात कही, पर यह हो कैसे ? यह बताइये।

बेकक, यह मुश्किल काम है। यह उतना ही मुश्किल है, जितना अपने हाथ से खाये जहर से बचना। जैसे अपने हाथ से खाये जहर के मामले में देर करना जिन्दगी से हाथ धोना होता है, ठीक उसी तरह इस

मामले में देर करना भी कई जिन्दगियों का बिगाड़ना होता है। इस तरह का डरपोक-पन सारी जिन्दगी को खराब ही नहीं कर देता बल्कि इतना दुःख भी देता है कि उसके सामने वह दुःख कुछ नहीं है, जो हमको अपनी जा-ब्रेजा इच्छाओं के पूरा करने में उठाना पड़ता है।

गीता पढ़कर लोग कृष्ण न बनकर अर्जुन बनते जा रहे हैं; पर अर्जुन वह जो गीता सुनने से पहले था, यानी कायर अर्जुन, क्लीब अर्जुन। उनको अपने से ही डर लगने लगा है। अपने से डरना सब से बड़ी भूल है, पर यह हो सबसे रही है। असफलता का यही कारण है। इस डर ने जिन्दगी मिट्टी कर रखी है। इसी ने ना-उम्मेदी को जन्म दिया है। ना-उम्मेदी और गुलामी बहने-बहने है।

श्रीकृष्ण की सीख देखने में ऐसी जँचती है, मानो अर्जुन को कह रहे हो—“अपना मतलब निकाल, किसी की परवाह न कर।” पर वास्तव में बात ऐसी है नहीं। वे तो भीष्म-द्रोण-जैसे महारथियों को उस पाप से छुड़ाना चाहते थे, जो वे दुर्योधन के, अपनी अन्तरात्मा के विरुद्ध, नौकर बनकर कर रहे थे। अर्जुन भी कुछ इसी तरह की भूल करने की सोच बैठा था और यदि कृष्ण उसके सारथि न होते तो कर भी जाता। फिर जानते हो, उमकी जिन्दगी कैसी होती? कहीं मुँह दिखाने लायक न रह जाता।

अब अगर तुम सुखी होना चाहते हो तो यह काम करना ही होगा। इस जबरदस्त द्रव्य को तोड़कर ही सुखी हो सकते हो। तो भी आओ, यह समझ लें कि ऐसा करना पाप तो नहीं है। अर्जुन को भी यह शंका हुई थी। उसका तसल्ली की गई थी, टाला नहीं गया था। तुम्हें भी टाला नहीं जायगा, तुम्हारी तसल्ली की जायगी।

तुम्हें जो सलाह दी जा रही है, वह झूटे देवताओं को उठा फेंकने की दी जा रही है। जबरदस्ती के गुरुओं व मालिकों को धना बताने की दी जा रही है। हममें तुम्हारी छोटी वामनाओं की मदद नहीं की जा

आत्मा की आज्ञादी

रही, और न लालच या घमण्ड को भड़काया जा रहा है। अराजकता का सबक भी इसमें कहीं नहीं है। यह तो सीधी-सादी विज्ञान की बात है, सच्चाई की, और ऐसी सच्चाई की जो विज्ञान की कसौटी पर कसी जा सकती है। हाँ, इसमें शक तभी कि हम इस युग की धोखेबाजियों के तरफदार नहीं हैं, और न उनको ठीक ही मानने को तैयार हैं।

हम यह भी नहीं कह रहे कि जवान जिसकी चाहे पगडी उतार फेंके; जिसका चाहे मजाक उड़ाये, जिसकी चाहे किताब जला दे, जिसकी चाहे आज्ञादी छीन लें, जिसका चाहे धुन लूट लें, या जो जी में आये कर डालें। हम तो उसको अन्तर-आत्मा या ज़मीर का कहना मानना सिखा रहे हैं। मन की न सुनकर उसको अन्तरात्मा की पुकार सुनने की बात कह रहे हैं।

“मैं हूँ”—यह हम सिखायेंगे ही। “मैं हूँ” जिन्दगी है। “मैं हूँ” यह तरक्की की राय है। “मैं हूँ” नहीं, तो कुछ नहीं। हाँ, “मैं ही हूँ”... “मैं ही सब-कुछ हूँ”—इस घमण्ड के गढ़ को हम ढाना-चाहते हैं। ये गढ़ आज के युग में जगह-जगह खड़े हो गए हैं। ये उच्छ्रूलखलता की नींव पर खड़े हैं। आत्म संयम वहाँ नाम को भी नहीं है।

दिल काबू में रखकर, मन वृश में कर, ज़मीर की रहनुमाई में अन्तरात्मा के नेतृत्व में किया हुआ ग़दर या क्रान्ति बनाती है बहुत, बिगाडती है बहुत थोडा, और वह भी उसका बिगाडती है, जो निकम्मा होता है।

उस क्रान्ति की जय मनाते हुए, आज की बात सोचो और आत्मा की आवाज़ सुनो।

काम करो, सोच में न पड़े रहो

वह गिरा कोई ! यह मत सोचो कि वह कौन है दौड़ो, और उठाओ ! सोच में पड़े कि मौका हाथ से गया । जो गिरा है, वह पड़ा नहीं रहेगा । वह तुम्हारे उठाने के लिए नहीं गिरा है । कोई और जानदार दौड़ेगा और उसको उठायेगा, तुम हाथ मलते रह जाओगे । देखो, वह आया उठाने ! उठा दिया उसने !

लो, एक और गिरा और उसने हड्डी तोड़ ली । दौड़ो, लाओ एक गाड़ी और पहुँचाओ उसे अस्पताल ! दूसरा मौका, भिभके और गए ! लो, वह पहुँच गया जानदार । वह है भी फुर्तीला । भारी पॉव वाली औरत की तरह चलकर दुनिया में निर्वाह नहीं होता । दूसरी भूल !

वह गिरा बच्चा ! आया मोटर के नीचे ! वह दौड़ा जानदार और उसने उठा लिया । तुम देखते-के-देखते रह गए ! क्या खूब ! एक, दो, तीन—फेल !

समझे कुछ ! तकलीफों के मुकाबिले का एक ही उपाय है । वह है प्रौरन मारे तीन को बदल दो । और अगर सोचो ही, तो-कभी-कभी और वह भी कुछ सैन्सड ।

एकीम घंटों सोचे तो मरीज की जान ले-ले । ताँगा हॉकने वाला यों सोचे तो टसियों को गिरा दे । रेलगाड़ी का ड्राइवर यों सोचे तो गाड़ी

लडाकर सैकड़ों को इस दुनिया से चलता कर दे; और फौज का जनरल ऐसे सोचे, तो हजारों को तलवार के घाट उतरवा दे।

जो जानदार है, वह जवान है। बहुत सोचना जवान का काम नहीं, फुरती से कर डालना जवानी है। सोचना, सोचना, सोचते रहना बुढ़ापा है। बुढ़ापा आधी मौत है। जीवन वचन है। जानदार और काम का जीवन जवानी है। उम्र का जवानों से कोई रिश्ता नहीं।

बुढ़ापे का दूसरा नाम है ढीली जवानी। हरदम चुस्त, हरदम तैयार—यह हुआ जिन्दगी का एक उसूल। गलती करो, गलतियों करो, रोज़ करो, हर वक्त करो; पर एक तरह की गलती दो बार न करो। जिससे भूलें नहीं हुईं, वह कुछ है ही नहीं। जिन्दगी भूलों के एक ढेर का नाम है। और अक्ल, बुद्धि? वह, वह है इन्हीं भूलों से सीखा हुआ पाठ, सबक। किताब का सबक भूला जा सकता है, पर भूल की किताब का सबक दिल पर अमिट रहता है। यह सबक जिस्म में जान फूँकता है। यही फुरती बनकर मौके पर कूटता है और सबसे बाजी ले जाता है! भूल करने से भिन्नकना, काम करने से भिन्नकना है। काम करने से भिन्नकना, जान को जान समझने से भिन्नकना है—जीते-जी मुँहों में अपना नाम लिखा लेना है। भूल की पाठशाला में सीखे हुए सबक बड़े काम के होते हैं। वह बच-देते हैं आदमी को निर्दोष! वह सिखा देते हैं आदमी को दुकानदारी के तालाब में कमल की तरह रहना। करना, करना और करना, पर फँसना नहीं। अंग्रेजी में इसको कहते हैं—इम्पर्सनल लाइफ (Impersonal life)। गीता में इसका नाम है अनासक्ति योग, और अनासक्ति का नाम है—बेलाग जिन्दगी।

रामायण सुनते हो, महाभारत के फिल्म देखते हो, शियों की मञ्जलिगो में शामिल होकर दुसैन के फारनामे सुनते हो, सुन्नियों की ताजियेदारी में हिस्सा लेकर भूखे-प्यासे मरने की तकलीफों का जिक्र सुनते हो; किम लिए?—यही न, कि तुम समझो कि तुम्हारे बुजुर्गों ने तकलीफों में पड़कर

क्या-क्या खेले खेले ?

तकलीफों में हाथ डाल-डालकर ही तुम ज्ञानी और दानिशमन्द बन सकते हो। तकलीफों का हाल पढ़-सुनकर उनमें पड़ने की हिम्मत भले ही आ जाय, पर अकल न आयगी, न आयगी। उलझनों का सुलझना सुलझाने से आयगा। सुलझाने की बात सुनकर न आयगा, सुलझाते देखकर भी न आयगा। सुलझाते हुए के हाथ चलते देख सकते हो, उसके मन की ऊबन का असुभव तुमको कैसे होगा ? तैरना तैरने से ही आता है, तैराकी पर किताब पढ़ने से नहीं।

तकलीफों से बचकर भागना न बहादुरी है, न बुद्धिमानी। वह कायरता है, और है नादानी ! तकलीफों में पड़े-पड़े सड़ना और भी बुरी बात है। वह जिन्दगी की टौड के मैदान में खड़ी की हुई रुकावटें हैं, खोटी हुई खाइयों हैं, गढ़ी हुई भूल-भुलैयाँ हैं। उन्हें तो कूटकर, लॉघरकर, रास्ता निकालकर पार करने में ही हमारा भला है।

अपने ऊपर आई हुई तकलीफों का रोना ? औरों के आगे रोकर न तुम अपना कुछ भला कर सकते हो और न किसी और का। सीता के हरे जाने पर वाल्मीकि और तुलसीदास दोनों ने ही राम को रलाया है और खूब रलाया है; पर कहीं वह लक्ष्मण को भी रला देते तो गई थी सीता और उसी के साथ हिन्दुस्तान की इज्जत। मेरी राय में पौलस्त्य-वध और मानस दोनों के राम कथा-कहानी के राम हैं। असली राम न रोये, न सोच में पड़े। उन्होंने धरराये हुए लक्ष्मण को सम्भाला और एक क्षण खोये बिना लग गए सीता की खोज में और लगा-लिया उसका पता।

राम के आगे के कारनामे हमें इसी नतीजे पर पहुँचने को मजबूर करते हैं। राम ने और अकेले राम ने, घर से सैकड़ों कोस दूर वाले राम ने लंका-विजय कर जो चमत्कार दिखाया है, वह रोने वाला राम नहीं हो सकता। करिश्मे रोज नहीं दिखाया करते। करिश्मे चमत्कारी व्यक्ति दिखाया करना है। चमत्कारी का होता है सुसुरता सर, हिलता हाथ और मौनी

सुख। तुम भी अपनी तकलीफों में गुँथ लिया करो चालों की एक माला, और तय कर लिया करो कि कौन-सी चाल कब और कैसे चली जायगी। शतरंज के खेल में जो जितनी चालें आगे की सोचकर चलता है, वही बाजी जीता करता है। अपनी चालों की जाँच करते वक्त जितनी जल्दी तुमको अपनी भूल मिलेगी, दूसरे को नहीं। तुम्हारे सामने हर चाल का उच्चा-निष्चान जो है। पर यह सब कामयाबी के साथ होगा तब, जब तुम भूलों के स्कूल में बिला-नागां जा-चुके होंगे और बेलाग जिन्दगी बिताना सीख चुके होंगे।

— तजुबेँ हासिल करते हुए बेलाग जिन्दगी बिताना जिन्दगी का दूसरा असूल है।

जिन्दगी सोच-विचार की चीज़ नहीं, वह तो बिताने की चीज़ है। असल में जिन्दगी एक सीढ़ी है, तकलीफें उसके डंडे हैं। सीढ़ी के ऊपर पहुँचना जिन्दगी बिताने वालों का काम है। डंडों पर सम्भलकर पाँव रखने से ही हम फिसलने से बच सकते हैं। एक पाँव जमाने में देर लगाएँगे, पर दूसरा पाँव उठाने में जल्दी करेंगे। जितने डंडे हम चढ़ चुके हैं, उनके बारे में सोचने में हम वक्त जाया नहीं करेंगे। हम सोचेंगे उन डंडों की जिन पर पाँव रखकर हमें ऊपर चढ़ना है। तभी आज्ञादी की छत पर पहुँच पायेंगे। यह जिन्दगी एक गोरख-धन्धा है। हमें चाहिए कि उसको सुलभाने के लिए कदम उठाने से पहले हम दो-चार नहीं; बल्कि बीसियों हल सोच लें और फिर एक के बाद एक लगातार काम में लाने लग जावे। ऐसा करने से हम भुँभलाहट के शिकार होने से बच जायेंगे। ऊब उठने की बात फिर पैदा ही न होगी।

सच्चाई बड़ी अच्छी चीज़ है। कुछ बुजुर्गों ने तो सच को ही खुदा कहा है। सच है भी इस नाम के लायक। सच जब ईश्वर ही है तो मौजूद भी होना चाहिए, पर यह याद रहे, वह आकाश की तरह सब जगह मौजूद है। सच में तकलीफों को मिटाने की ताकत नहीं, उलझनों को सुलभाने का बल नहीं। यह बल तो बालू के जरेँ-जितनी व्यवहार-बुद्धि, यानी अमली

सूझ-बूझ में है। वही तकलीफ़ मिटा सकती है। उलझन सुलझ सकती है। आफ़त में पडकर, न सच्चाई देह धरकर आयगी और न ईश्वर। उस वक्त काम करेगा तुम्हारा दुनियाबी तजुर्बा, व्यावहारिक ज्ञान। वह बंताएगा, भूल किस तरह की है क्यो हुई और कैसे ठीक होगी। सच्चाई और राम हिम्मत के दूसरे नाम है, या अगर ये अलग कुछ है—तो खड़े-खड़े “वाह बहादुर, वाह बहादुर, खूब किया, खूब किया” कहते रहते हैं। क्या, क्यो और कैसे के भंभट में सच्चाई और राम नहीं पडते। यह काम तो टानाई, बुद्धि, अक्लमन्दी का है।

क्या, क्यो और कैसे से आगे का रास्ता तय करने के लिए हमारी रोज़मर्रा की समझ हमारा साथ देगी। वह बतलायगी कि काम कब और कैसे शुरू किया जाय ? कौन हमारे मददगार होंगे ? काम करने की लगन तुमको यह बता देगी कि तुमको क्या चीज़ चाहिए, और फिर तजरबा वह चीज़ें तुम्हारे सामने लाकर रख देगा। आदत हो जाने से ये काम रोज़-ब-रोज़ आसान होते जले जायेंगे। यह याद रखना चाहिए कि जानने से करना ज्यादा काम की चीज़ है। सन्तोष होगा करने से, जानने से नहीं। जानकारी कभी-कभी दुविधा में डाल देती है। दुविधा बेचैनी है। बेचैनी का नाम असन्तोष है। असन्तोष से बचने का तरीका है—बुराई-भलाई का अक्किडा तैयार करना। वह आगे बताया जायगा।



बुराई-भलाई के आँकड़े

सुख-दुःख बाहर कही नहीं है। हमारे सिवा हमको कोई दूसरा न सुखी कर सकता है, न दुखी! समझने के लिए यो मान लीजिए कि हमारे अन्दर दो बक्स रखे हुए है। एक सुख का, दूसरा दुःख का। न मालूम क्यों, कुछ लोगो को दुःख का बक्स खुला रखने की आदत पड गई है। कम ही लोग हैं, जो सुख का बक्स खुला रखते है। दुःख का बक्स खुला रखते-रखते हम यह समझने लग गए है कि सुख का बक्स हमारे पास है ही नहीं, और फिर औरो के बतलाने पर यह नहीं मानते कि हमारे अन्दर सुख का बक्स भी मौजूद है और यह कि हम अपने-आप सुखी भी हो सकते हैं। बहुत सुनाने-समझाने पर जब हमको औरो की बात माननी पडती है तब हम दूसरा बक्स खोलने की कोशिश करते हैं और एकाध बार इसे खोलने में सफल भी हो जाते हैं। तब भी अपनी आदत से मजबूर फिर उसको बन्द कर देते हैं और अपना दुःख का बक्स फिर खोल बैठते हैं। अभ्यासवश इसे बन्द करने की याद ही नहीं रहती, और यो दुःख या कम-सुख और ज्यादा-दुःख के चक्कर में पडकर अपनी तरक्की की चालु को विलकुल बन्द कर देते है, या बहुत मन्द कर देते हैं।

सुख-दुःख बाहर न होते हुए भी इतनी बात जरूर है कि बाहरी

मामलों की वजह से हमारे बक्स खुलते और बन्द होते हैं। कौन बातें कौन बक्स खोलती हैं और कितनी देर खुला रखती हैं, इसका हिमात्र रखने से दोनों बक्कों पर हमारा पूरा अधिकार हो जायगा। एक तरह से यों हम दुःख से बच ही जायेंगे। हिसाब के बाद अॉकड़ा यों मिलाना होगा।

भला या बुरा कोई भी काम जब तुम शुरू करते हो तो दो तरह की बातें तुम्हारे सामने आया करती है, एक हिम्मत घटाने वाली और दूसरी हिम्मत बढ़ाने वाली। पहली बुरी लगती है, दूसरी भली।

सन् १९१० में मुझे गुरुकुल खोलने की धुन सवार हुई। कुछ दिन बाद वह लगन बन बैठी। अब क्या था! अन्तरात्मा बोलने लगा। ऐसा हमेशा ही होता है, हर एक के साथ होता है, यानी लगन लगी और अन्तरात्मा जागा। इसी अन्तरात्मा ने बताया, जो कहे 'गुरुकुल खोलना बुरा', 'गुरुकुल खोलना मूर्खता', उसकी सुनना ही नहीं। और जो कहे, 'गुरुकुल खोलना भला', 'उसका खोलना बुद्धिमानी', 'उसके लिए यही ठीक समय है', उसके पास रहना और घण्टों रहना, हफ्तों रहना, उसकी खूब सुनना-ममभक्ता, पर करना अपनी। अन्तरात्मा की आज्ञा मानी गई, मैं काम में लग गया, दुःख पास न फटका। ११ नवम्बर सन् १९१० को लगन लगी और ११ मई सन् १९११ को गुरुकुल खुल गया। खुलने से ठीक पहले बड़ी विपत्तियाँ आईं, पर अन्तरात्मा के बताए मन्त्र से पलक मारते टल गईं।

'गुरुकुल खोलना बुरा है, बे-वक्त, है, भूल है', जिनकी यह राय थी वह मेरे दुश्मन न थे, मेरे मित्र थे, मेरे भले की कहते थे। मगर उनकी यह राय मुझे मेरे लिए थी। मेरी जगह कोई और होता, तो वे अपनी कुछ और ही राय देते। यह ठीक है, वह मुझे तकलीफों से बचाना चाहते थे। जो हमें काम करने से रोकते हैं वह हमारे दुश्मन ही होते हैं, ऐसा नहीं मानना चाहिए। ऐसी कठिनाइयाँ तुम्हारे सामने आएँगी। उस समय तुम दूसरों को खोटी-भरी न सुनाना, अपनी बात से दृटना भी

नहीं। तुम अपना समय उनको समझाने में न खोना, जो तुम्हारे काम को ठीक नहीं समझते। तुम अपने वक्त का सदुपयोग करना उनको समझाने में जो तुम्हारे काम को ठीक समझते हैं। और इसी तरह अपने तरफदारों की तादाद बढ़ाये जाना। ना-तरफदारों की गिनती अपने आप ही कम होती जायगी। ना-तरफदारों को तुम मत छोड़ो, वे तुम्हें नहीं छोड़ेंगे। इस सुख-दुःख के आँकड़े मिलाने का सबक तुमको घर से सीखना होगा। अगर तुम यह चाहते हो कि तुम्हारे बच्चे तुमको काम करते हुए न छोड़ें तो तुम भी उनको खेल खेलते न छोड़ो। अगर तुम चाहते हो कि तुम्हारी स्त्री तुम्हें तुम्हारे दोस्तों के सामने हल्की बात न कह बैठे, तो तुम भी उससे उसकी सहेलियों के सामने ऐसी बात कह बैठने की भूल न करो।

घरेलू आँकड़े बनाते-बनाते सामाजिक आँकड़े बनाने में तुम अभ्यस्त हो जाओगे और इस तरह सुख-दुःख पर बहुत दर्जे तक काबू पा जाओगे।

कुछ लोग समझते हैं, सोचना काम है। सोचना काम नहीं, काम का हिस्सा समझा जा सकता है, पर वह तब, जब सोचने वाले ने हाथ-पॉव हिलाकर कुछ कर दिखाया हो। यदि ऐसा न हुआ तो वह सोचना न काम है और न काम का हिस्सा। ऐसे सोच-विचार का नाम है निठल्लापन। आँकड़े में इस काम में लगा वक्त दाईं ओर, यानी खर्च के नाम, ही डाला जायगा—और वह भी बढ़े-खाते।

तुम्हारे वक्त का ताला बन्द है, उसको ताली खो गई है। उसके खोलने की तरकीबें घण्टों, दिनों, हफ्तों, महीनों सोचकर तुम ताला नहीं खोल सकते। पर एक कील लेकर ताले के सूराख में डालकर उजड़पन से इधर-उधर हिलाकर, हो सकता है, कुछ देर में तुम उसे खोलने में सफल हो जाओ। और कहीं तुम्हारा मन इधर हो और बुद्धि को थोड़ा कष्ट दो, तो और जल्दी उसे खोल सकते हो। बड़ी-बड़ी ईजादों की जड़ में तुमको मिलेगा केवल 'लगे-रहना' और केवल 'काम में लगे रहना'। एक

सफल उपन्यास-लेखक से पूछा गया, “तुम उपन्यास-सम्राट् कैसे हो गये ?” उसने जवाब दिया, “एक दिन भी लिखने की भागा न करने से ।” मुलायम रस्सी पत्थर में निशान कर देती है । तुच्छ बूँदें सिल पर गढ़ा कर देती हैं । यह उदास हृदयों को उकसाने के लिए कोरी कल्पनाएँ नहीं हैं, सचार्ड के टोस गुर-है । एक साल काम का और निठल्लेपन का अँकड़ा मिलाकर देखो तो । अगर बाईं तरफ की रकम दाईं तरफ की रकम से ज्यादा है, तो तुमने जरूर कुछ ऐसा काम कर डाला है जो न सिर्फ़ तुम्हारे लिए; बल्कि तुम्हारे कुटुम्ब के लिए, तुम्हारे समाज के लिए और तुम्हारे देश के लिए उपयोगी है ।

सोचना और सोचना ही सोचना, ‘खाली बैठना’ है । काम करना और काम किये जाना ‘काम करना’ है । काम करते-करते जो सोचा जाय, उसका नाम भी ‘काम’ है । काम करते-करते सोच-विचार का नाम है ‘सिर का काम’ जिसे अंग्रेजी में ब्रेन वर्क (Brain-work) कहते हैं । यह सिर का काम हाथ के काम को चौगुना कर देता है । तभी इसको काम का नाम मिला है । कोरे सोचने से काम की चाल धीमी ही नहीं पड़ती, रुक जाती है और वह काम के पुरजो में जंग लगाकर उन्हे हमेशा के लिए ब्रेकार कर देती है । पढ़ना काम नहीं है, निठल्लापन है । हाँ, वह पढ़ना काम है, जो किसी काम के लिए पढ़ा जाय । काम में लगे-लगे अगर कायरता आ दवाए, तो गीता पढ़ना काम समझा जायगा ? रोज उसका अन्वल से लेकर आखिर तक पट-जाना निठल्लापन नाम पायगा । वे-मतलब अखबारों का पढ़ना निठल्लापन है । निठल्लापन ही नहीं, नशा है, लत है, बीमारी है । हाँ, एक व्यापारी अपनी चीजों के भाव जानने के लिए अखबार खरीदता और पढ़ता है, वह सचमुच काम करता है और कुछ खोकर भी कमाता है । हिन्दुस्तान में खबरों के अखबार हैं, समाचारों के समाचार-पत्र हैं; यानी खबरों के ‘कार’ हैं—वाम पत्र, यानी काम के पत्र, हैं ही नहीं । आजकल सब सरकारी राजट बने हुए हैं । कुछ को छोड़ सभी धनवानों की माटगोरी का काम करते हैं, या दुकानपारों की दलाली का । इनको पढ़ना काम कैसे

बुराई-भलाई के आँकड़े

हो सकता है ? इस आँकड़े में पूरे सतर्क रहने के लिए ऊपर की लकीरें लिखी गई हैं। ये इशारे हैं। इनकी मदद से आँकड़े में कौन रकम किधर लिखी जानी चाहिए, इस काम में मदद मिलेगी।

निराश हुए और गए। उम्मीद सहारा है। उम्मीद ही जीवन है। निराशा मौत है। उम्मीद श्रद्धा की बहन है और सदा साथ रहने वाली बहन है। उम्मीद है तो काम करने का बल है और काम कराने का बल है तो जय मिलेगी ही। जय इत्र है परिश्रम के फूलों का। इत्र मनो फूलों से तोलो ही मिलता है, पर इत्र का तोला फूल के मन से ज्यादा मूल्यवान होता है। बहुत मेहनत से ही जय मिलती है। जय परिश्रम के दुःख को भुला देती है और उससे कहीं ज्यादा प्यारी लगती है। परिश्रम-इंजन की उम्मीद भाप है। परिश्रम-देह की आस-श्वास है। किसी ने ठीक कहा है : 'जब तक श्वासा तब तक आशा।' आशा में तकलीफ भले हो, मौत नहीं। जय में सुख है, पर उस सुख और आनन्द में मौत का कोंटा छिपा रहता है। कौन नहीं जानता, अपने बेटे के देखने के लिए बीमारी के विस्तर पर पड़ी ज्यो-त्यो टम-जुड़ाती माँ उसे देखकर दम तोड़ देती है। आशा और जय में यही तो अन्तर है। इच्छा-पूर्ति में यही तो फर्क है। जय में कभी-कभी आशा का अन्त हो जाता है और इसलिए मौत आ घमकती है। भूठी, नकली जय भी कभी-कभी जय मान ली जाती है और इस तरह आशा का अन्त हो जाने से जो चीज मिलती है, वह होती है—हार, असफलता, ना-कामयाबी।

इसलिए आशा और निराशा का खाता रखना बहुत जरूरी है। आशा की पूँजी बढ़ाने में यह जानकारी बड़ी मदद देती है कि परिश्रम किये जाने का फल होता ही है और बहुत मीठा होता है। घण्टों दही बिलोने पर मक्खन निकलता है। वर्षों पानी देने पर आम के पेड़ से फल मिलते हैं। लाखों मनु पत्थर-जैसी कड़ी मिट्टी काटने पर हीरे की एक कनी नसीब होती है। पर यह कनी हजारों मजदूरों की मजदूरी चुराकर वर्षों बैठे-बैठे उनको खाना भी दे सकती है, अगर वह कनी उन मजदूरों को ही दे दी जाय।

इस साधारण ज्ञान के बल पर, जवानो, आशा की पूँजी बढ़ाते हुए तुम सुखी रह सकते हो और काँटों से भरी जमीन को फूलों की सेज बना सकते हो। इन अँकड़ों को रोज-के-रोज मिलाने पर तुम्हारा चेहरा चमक उठेगा, तुम्हारे मुँह से फूल भड़ने लगेंगे, तुम्हारी आँखें जगमगाने लगेंगी। वक्त के असर से तुम बचे रहोगे। बालको-जैसी उछल-कूद और चपलता तुम में बनी रहेगी और तुम मनचाही मौत पा सकोगे।

एक ग्रामीण, मुसलमान, बूढ़ी, तजुबेकार औरत से किसी हिन्दू नव-यौवना ने पूछा, “अम्माँ, तुम्हारे अभी कितने रोजे और बाकी हैं ?” वह हँसते चेहरे से बिना प्रयास बोल पड़ी, “गये विचारे रोज़े, रह गए नौ और बीस।” यह वह जानती है कि तीस रोज़ों में से अभी उन्तीस बाकी हैं, पर इसका जिक्र वह पूछने पर ही करती है और इस तरह करती है, मानो वह उन्तीस उम एक के मुकाबिले में कुछ भी नहीं है, जिसे वह पूरा कर चुकी है। इस तरह वह ‘हो चुका’ का पल्ला ‘होने को है’ के पल्ले से सदा भारी रखती है। तभी तो हर वक्त उसके चेहरे पर हँसती-खेलती रहती है। दुनिया बन रही है, बिगड नहीं रही है।

कितना बनना बाकी है, उसकी तरफ नज़र डाली—और तुम गिरे मोच की गहरी खाई में। चाहे उसमें डूबो नहीं, पर वहाँ से निकलना आसान नहीं। आदर्श, या वह जगह जहाँ हम पहुँचना है, कितनी दूर है—यह मत सोचो। सोचो यह कि तुम आदर्श की ओर कितना बढ़ चुके हो। दूसरों से भगड बैठने में कारण हमारे ‘हो चुका’ के खाते की कमी ही हुआ करती है। जिनका ‘होने को है’ का खाता बहुत होता है, वह चिढ़चिढ़े मिजाज के होते हैं। हर किसी से उलझ बैठते हैं। इस उलझन में उलझकर न खुद आगे बढ़ पाते हैं और न अपने रिश्तेदारों, भाइयों को आगे बढ़ने देते हैं। बूढ़े धाम अपने दुश्मुँहे बच्चों से चाहते हैं कि वे उनकी तरह रहें-सहें और जब वह बैसा नहीं करते तो आपे से बाहर हो उन पर बरस पड़ते हैं। बूढ़ी माताएँ अपनी नन्हों-नन्ही बच्चियों की उछल-कूद, धौल-धप्पड, तोड़-फोड़, लूट-खसोट, छीना-भपटी देखकर ऐसी नाक-भौं सिकोड़ती हैं कि कहते नहीं

बनता । वे चाहती है कि वे नन्ही रहती हुई ही उन-जैसी बूढ़ी बन जायँ । हॉ, वह बूढ़े-बुढ़िया खुश मिलेंगे, जो यह देखकर खुश होते हैं कि हमारे तीन वर्ष के बच्चे वह बातें नहीं करते, जो वह तब करते थे, जब दो वर्ष के थे या एक वर्ष के थे । अहा ! अब तो वह घुटनो न चलकर, खड़े होकर एक-एक कदम चलना सीख गए हैं । अहा ! अब तो वह चम्मच से ले-लेकर दूध पीना सीख गए हैं । अहा ! अब तो वह छोटे-छोटे वाक्यों को बोलना सीख गए हैं ।

यशोदा और नन्द की कथा लोग सुनते जरूर हैं, पर उन-जैसा व्योहार वह अपने बच्चों के साथ नहीं करते । वह अपनी खाली दुनिया में यशोदा और नन्द को अपने प्यारे कन्ह-कन्हवाई पर अनाप-शनाप प्यार उँडेलते देखते हैं और मस्त हो-होकर कथा-रसपान भी करते हैं, पर घर लौटकर वही लोग बीसवीं सदी के बुड्ढे-बुढ़िया बन जाते हैं और बालकों को फटकारने लग जाते हैं ।

जवानो ! अपना 'हो चुका' का खाता सम्भालो । 'होने को है' के नाम अपने कीमती वक्त की रकम लिखना छोड़ो । सुखी होने का यही उपाय है । तरक्की के कौंटो से बचकर चलने में ही भला है । उन्हें उठाकर फेंक डालना ही धर्म है ।



स्वतन्त्र राय और सदिच्छाएँ

सब आदमी सब बातों में कुछ-न-कुछ राय रखते हैं। यह ठीक भी है। हमारे जीते रहने का यह सबूत है। पर मुश्किल यह है कि हमारी रायों में बहुत-सी अपनी नहीं होती। वह सब होती है उधार ली हुई। उधार की रायों से आप कुछ की नज़रों में साहिबे राय, रायवाले या रायों के धनी माने जा सकते हैं, पर अपनी नज़रों में आप वैसे नहीं जचेंगे। समझदारों की नज़रों में भी आप वह जगह न पा सकेंगे, जो आप, तब पाते, जब आपके पास बहुत-सी रायें आपकी अपनी होती। जो रायें आप अपने-आप बनाते हैं, वह परखी हुई होती है, बहुत-सी आजमाई हुई होती हैं। उन रायों से आप दूसरों पर असर डाल सकते हैं। दलील के साथ उनकी रायों को बटल भी सकते हैं। आपकी अपनी रायें आपको मजबूत बनाती हैं। उधार ली हुई रायें भी उधार लिये हुए धन की तरह थोड़ी देर के लिए आपको चकमा दे सकती हैं, पर थोड़ी देर के लिए ही न? उधार की रायों का बल, शराब के नशे से पाये हुए बल के समान, आपको बहस के मैदान में भडकाये हुए कुत्ते की तरह, लड़ा सकता है और अपने-जैसी पर जय भी दिला सकता है; मगर न वह आपका कुछ भला कर सकता है और न समाज, धर्म या देश का। जान की बढ़ती हुई टाँड में उस बल के बूते आप आगे निकल जाने की उम्मीद न रखें। उधार की रायों की पूँजी पर बने सेट कभी ऐसा

सोचते भी नहीं। मूर्खों पर रौब जमाने के लिए ऐसी रायें बड़े काम आती हैं।

इनमें यह गुण न होता, तो इतने लोग इन्हें अपनाते क्यों दौड़ते? किसी धर्म में पैदा होने वाले, किसी धर्म की असली किताबें खुद पढे-समझे बगैर उस धर्म के बारे में जो रायें रखते हैं, वे सब उधार की होती हैं। उनका भण्डार उनके पास ब्रेहट रहता है। बहस के मैदान में वे रायें उनके हाथ में बन्दूक, तलवार बनकर थोड़ी देर के लिए चमत्कार दिखा देती हैं। इस चमत्कार से जीवन-महायुद्ध की उस नाचीज़ लड़ाई में वह जय तो पा लेते हैं, पर धर्म का, या नाम वाले धर्म का भी, भंला न कर, कुछ बुरा ही कर बैठते हैं।

समझने के लिए जरा धर की तरफ चले। हरेक मॉ चॉट के टांगो के बारे में एक राय रखती है। वह उसकी अपनी नहीं होती। वह उसकी बपौती है। बाप से बपौती की तरह अगर मॉ से मौती शब्द बन सकता है, तो वह उसकी मौती है यानी मॉ से पाई है। वह अपनी इस मौती—बपौती राय को अपने बच्चे के दिल में ठूस देती है। बालक समझता तो है नहीं, वह उसको ऐसे ही सन्न और बिलकुल ठीक मानने लगता है, जैसे किसी कालेज का एक आर्य ग्रेजुएट वेद (भगवान्) में बताई हुई बातों को; या अमेरिका, ब्रतानिया, जर्मन, जापान से लौटा हुआ मुसलमान पी-एच० डी० कुरान (शरीफ) से बताई हुई बातों को। सब धर्म-वालो को अपनी धर्म-पुस्तकों के प्रति ऐसी ही इज्जत होती है। वेद, कुरान, बाइबिल, धम्मपद्, तत्त्वार्थ-सूत्र, जेन्टावस्था के बारे में उनको कभी खोले बिना भी, आर्यसमाजी, मुसलमान, ईसाई, बौद्ध, जैनी, पारसी विद्वान् (ज्ञानी नहीं) बिना भिभके यह राय जाहिर कर देगा कि यह किताबें ईश्वर, खुदा, सर्वज्ञ, बुद्ध की कही हुई हैं, और उनमें कोई बात गलत नहीं है और कि उनमें सब कुछ भरा है।

यह साफ है कि यह उनकी अपनी (अपनी बनाई हुई) राय नहीं होती। बपौती में पाये हुए कपड़े, रुपये, मकान, रिश्तेदार, सरकार, धर्म,

खुदा तक जब कानूनन् हर तरह उनके माने जाते है, तब अपौती मे पाई राय उन्हीं की क्यों न समझी जाय ? तर्क के तीखे तुरंग पर अटल, आसन-आसीन उनके इन शब्दों को, कौन धकेलकर धरती की धूल चखा सकता है ? हाँ, एक है—और वह है उन्ही का जमीर, उन्हीं का अन्तरात्मा । ऐसा नहीं होता, तो मूसा, ईसा, बुद्ध, महावीर, मुहम्मद कहाँ से आते ? मौलाना रूम, ब्रेडला, कबीर, नानक, टाडू-जैसी अनेक आत्माओं का जन्म व्यर्थ होता । हाँ, तो वह बालक अपनी माँ का पाठ याद कर लेता है । वह पाठ उसका धर्म बन जाता है । फिर उसको उस चॉट मे बुढ़िया चरखा कातती हुई दिखाई देने लगती है । उसकी पौनी से निकलता हुआ धागा उसको साफ दिखाई देने लगता है । अपने इस प्रत्यक्ष प्रमाण (यानी ज्ञान) को लेकर वह अपने मातृ-धर्म के प्रचार का बीडा उठाता है और सारी दुनिया को आर्य (अपनी माँ के धर्म को मानने वाला) बनाने वाला भण्डा हाथ मे लेकर अपने साथिया मे सिंह-गर्जना करता है और पलक मारते वह उनको अपना अनुयायी बना लेता है ।

इन अनुयायियों की मदद से उसे दिग्विजय मिलती है । इसे आप आलंकारिक भाषा न समझे । दुनिया-भर के बालक चॉट के बारे मे ऐसी या इससे मिलती-जुलती राय रखते हैं । इने गिने ना-समझ विज्ञानियों या उनके बहकाये हुएों को छोडकर सब बड़े-बूढ़े भी इस राय से सहमत है । आप भी इसी राय के होंगे ।

जानी हुई दुनिया को सभा मानकर और इस पर रहने वाले छॉटे-बूढ़े गव को गव देने वाले मानकर, अगर इस बात पर राय ली जाय कि जमीन गेद की तरह गोल है या थाली की तरह चपटी है, सूरज के चारों ओर घूम रही है या सूरज इसके चारों ओर, गाय के माँग पर टिकी हुई है या दया पर, तो आजकल के माइन्सटानों को एडी-चोटी का जोर लगाकर टी अर्नी जीव की उम्मीद रखनी होगी ।

आप जरा धीमा पढ़कर देस लीजिए । उधार की राय मे आसकी

सलाह की छत बे-कौड़ी-पैसे पट जायगी। यह राय उनकी ही है जो न डाक्टरी पढे, न हिकमत-वैद्यक, ऐसा नही; दस डाक्टर, दस हकीम, दस वैद्य भी अपनी छत को ऐसी ही रायो से पट दंगे।

आज की लडाई के बारे में वे तक, जो राधास्वामियो के आदि गुरु की तरह बारह बरस से भी ज्यादा अपने-आपको एक कोठरी में बन्द किये बैठे है, खुदा की तरह यह राय जाहिर कर डालते है कि जीत किस की होगी और हार किसकी। रेडियो-पर जाहिर की हुई लडाई की राये; फिर चाहे वह लन्दन से फेकी हुई हो, या अमेरिका, जर्मनी, जापान-से, नब्बे फीसदी उधार ली हुई होती है। और मुल्को की तरह हिन्दुस्तान की सरकार लडाई के बारे में फैलाई अफवाहो को रोक रही है, और यह ठीक भी है; पर मेरी राय में अफवाहे इतना चुकसान नही करती, जितनी उधार ली हुई राये।

अफवाहे अफवाहो से काटी जा सकती है; पर राये रायो से भिडकर आग पैदा करती है, मजबूत बनती है। वह एक राय ही तो है कि अरब का एक मालिक है और उसका नाम अल्लाह, खुदा है—हिन्दुस्तान का एक मालिक है उसका नाम अलख व राम है। एक यह भी राय है कि अलख, अल्लाह, खुदा, राम सब एक ही मालिक के नाम है। पर ये तीनों राये खूब टकराती है और वर्षों से टकराती रही है।

उधार की राये कोकीन की तरह मन को सुन्न कर देती है। मन के मुँह में लगे विवेक के दाँत कुछ स्वार्थी उखाड लेते हैं और जिनके दाँत उखाडते है, उनको पता भी नही चलता। बे-दाँत के बच्चे की तरह मन नेतुकी रायो के बड़े-बड़े दाँत निकालने लगता है और पेट को खराब कर देता है। जवानो! तुम अपने मन को, अपनी रायो को तखुब की सिल पर रगड, अन्तरात्मा के आज्ञा-रस में घोलकर पिलाना शुरू करो और उसको कब्ज से बचाओ।

अब देखो, तुम्हारी रायो मे से कितनी उधार की है और कितनी तुम्हारी अपनी। खाते में अपनी-अपनी रायो का ज्यादा होना जरूरी है। अपनी

ही अपनी ही, तो कहना ही क्या ?

“जाके पाँव न फटे बिवाई, सो क्या जाने पीर पराई ।”

यह एक कहावत है । कहावतें आप-बीती का निचोड़ हुआ करती हैं । इसलिए सचाई का पुञ्ज होती हैं । सच अगर हीरा है, तो वह उसकी कनी होती है । आग की तरफ अपने छोटे बच्चे को जाते देखकर माँ यह चिल्लाकर चुप नहीं हो बैठती कि आग गरम होती है, तुम जल जाओगे । वह भुगत चुकी है, इसलिए बोलती कम है—या बिलकुल नहीं—वह तो दौड़ती है और उसे वहाँ पहुँचने से पहले रोक लेती है । बच्चा भी मुस्करा देता है और शायद गुपचुप यह कहता-सा मालूम होता है कि माँ, तुम्हारा यह रोकना मुझको जँचा नहीं, मैं आज नहीं तो कल मौका पाकर आग की तकलीफ भुगतकर देखूँगा, एक बार उँगली जलाये-बिना उसका आग का ज्ञान धुँधला रहता है । आधी दुनिया के सर में इस धुँधलेपन की वजह से टट रहता है । लाखों आदमी ऐसी युक्तियों, तद्वीरों, उसूलों, सिद्धान्तों के जाल में फँसे हुए हैं जिनका कोई आधार नहीं है । इस त्रे-बुनियाद के सिद्धान्तों ने करोड़ों का दिमाग खराब कर रक्खा है ।

खास-खास मौकों पर समाज का हम पर ऐसा रौब छाता है कि हम बिना कान-पूँछ हिलाये सरकस के शेर की तरह रूढ़ियों के कोड़े से थरथराते, चाहे—कुछ करते रहते हैं । विवाह के वक्त हम कितने ही पढ़े-लिखे, किननी ही उम्र के क्यों न हो, अनपढ़ और उम्र में छोटे पुरोहित के हाथ की कठ-पुतली बन जाते हैं । ‘क्या कर रहे हैं ?’, ‘क्यों कर रहे हैं ?’, ‘किसलिए कर रहे हैं ?’ यह सवाल उठाने को हमें हिम्मत नहीं होती । ‘नहीं करेंगे’, ‘हर-गिषा नहीं करेंगे’ की आवाज तो फिर उठायेगा ही कौन ? यह बातें हमें भले ही छोटी-सी जँचती हों, पर बीज होने से पेड़ बने बिना नहीं रह सकतीं । तब फिर यही बन की शकल अखिलचार कर लेती है और हमें अपने में ही भटकाए रखती हैं ।

जवानो ! अपनी जानकारी की डायरी आप-बीती की नांव पर बनाओ, पर-बीती को बालू का ढेर समझो । उन पर बनी अटारंग कभी भी गिर सकती

है। सुनते यह हैं कि बालू पर भीत बनती ही नहीं है, मालूम नहीं किसलिए, फिर वह पर-बीती पर अटारी खड़ी करते हैं। हिन्दुस्तान के कालेजो में राजनीति का सबसे होशियार प्रोफेसर वही माना जाता है, जिसने राजनीति के व्यावहारिक मैदान में कमी कदम न रक्खा हो और शायद हिन्दुस्तानी सरकार अब लडकियों के मेडिकल कालेज में 'बालक-जनने' में क्या तकलीफ होती है, मजबूत पर लेक्चर देने के लिए छोट-छोटकर लन्दन से बॉम्बे में बुलाया करेगी। इस काम के लिए बाल-संतनी (Nuns) और भी ज्यादा ठीक रहेगी।

जैसी सरकार वैसा दरबार, वैसी खिदमतगार, वैसी रीयत भी लाचार। मतलब यह कि हमारे जवान इसी रंग में रेंगे हुए हैं। उन्हें चाहिए कि वह समझ लें कि वह वह हैं, जिसको वह भुगत चुके हैं। वह वह बन जायेंगे, जो वह भुगत लेंगे। तब उनको चाहिए कि वह कदम-कदम पर अटक जायें और समझ लें कि उनसे क्या कराया जा रहा है? उनका जितना तजरबा है और जितना उनको कुदरत का ज्ञान है, और उनकी जो जानकारी है—वह नये कामों को परखने के लिए बहुत काफी हो सकती है, अगर मेहनत कर वह ऊपर समझाया लेखा तैयार कर ले।

इच्छाएँ जन्म से हमारे साथ हैं, मरते-दम तक रहेगी। इच्छाओं को सवने कोसा है। हमारी राय में वह शरीर का धर्म है। आत्मा का है या नहीं, यह अभी जानने की जरूरत नहीं; क्योंकि हम कोरे आत्मा नहीं हैं। जब यह शरीर का धर्म है तो इनको नाश करने की जरूरत नहीं। कम की जा सकती हैं और करनी भी चाहिए। 'अमीर' ने चिढ़कर यह कहा है :—

काट के फेक दे जड, नखले तमन्ना की 'अमीर'।

फूल कम्बरुत में आया न कभी फल आया ॥

पर हमका भी मतलब यही है कि घुरी इच्छाओं को रोको और भली की हट बाँधो।

इच्छा उस सोच का नाम है, जो हम उस चीज के लिए करें जो हमें जन्म से नहीं मिली। कुछ चीजों ऐसी हैं, जो हमें मिली तो जन्म से हैं, पर

फिर भी हम उनके पाने के लिए सोचते हैं। इस इच्छा को हम इच्छा नहीं मानते। यदि इच्छा किसी की किताब में बुरी चीज मानी गई है तो हम सलाह देंगे कि ऐसी इच्छा खूब करनी चाहिए। इस इच्छा को बुरी होने का टोप नहीं लगता। जैसे ज्ञान की इच्छा करना, बल की इच्छा करना, सुख की इच्छा करना, आजादी की इच्छा करना—यह चारों चीजें हमें जन्म से मिली हुई हैं और खूब मिली हुई है। इन्हें तो हम भूले हुए हैं, इनकी याद दिलाने के लिए कुछ चीजें चाहिए। उनकी इच्छा करना अच्छा है। यों इच्छाएँ दो तरह की होती हैं—एक भली, एक बुरी। किताब, गुरु, औजारों की इच्छा भली है, क्योंकि यह हमको ज्ञान की याद दिलाती है, जो हमारे अन्दर है; चाहे जहाँ घूमने की आजादी की इच्छा भली इच्छा है, क्योंकि यह हमें बल की याद दिलाती है; तैरने, उड़ने की इच्छा करना अच्छा है, क्योंकि इससे ज्ञान पाकर हमारी तसल्ली होती है और सुख की याद आती है। आर्थिक आजादी समाजिक आजादी की इच्छा करना अच्छा है, क्योंकि यह आत्मा आजादी की याद दिलाती है। किसी की किताब फाड़ डालने की इच्छा करना, पाठशाला को ढा देने की इच्छा करना बुरा है; क्योंकि यह हमें जन्म से मिले ज्ञान से दूर फेंक देने वाली इच्छाएँ है। किसी के घूमने-फिरने पर रोक लगाने की इच्छा, परीक्षा में रोकने की इच्छा बुरी इच्छा है; इनमें हम जन्म से मिले बल से दूर पड़ जाते हैं। मतलब यह कि वह सब इच्छाएँ बुरी है, जो दूसरों को दुख पहुँचाएँ और अपनी जन्म से मिली ताकतों से हमें दूर फेंके।

जवानो, इच्छाओं का श्रॉकड़ा रखना जरूरी है। बुरी इच्छाओं को कम करते जाओ, अच्छी इच्छाओं की हद बँधो और जानी, शक्तिशाली, सुखी और आजाद होने की इच्छाओं को जितनी पैनी कर सको, करो।



धीरता और वीरता

आफतें आई है, आती है, आती रहेगी । कोई इनसे नहीं बचा ।

आफतें सभी देह पर ही आती है । भूल से यह मन और आत्मा पर आई मान ली जाती है । दुनिया मानने की ज़्यादा है । हम जो समझ बैठें, वह हो ही जाते हैं । चाहिए यह कि देह पर आई-मुसीबतों को देह तक ही रहने दें, उन्हें अन्दर टाखिल न होने दें । यह काम ज़रा मुश्किल है, पर अभ्यास से हो सकता है । देह पर आफत भेल लेने का मतलब यह है कि देह पर कुछ भी आये, अपने सिद्धान्त पर अटल बने रहे । सिद्धान्त पर अटल रहने का मतलब है, अपनी अन्तरात्मा (यानी ज़मीर) की बात पर डटे रहना । ज़मीर की बात पर डटना घमंड नहीं है; हठ भी नहीं है, लोग भले ही उसको ये नाम दे डालें । हठ और घमंड से भी आफतों का सामना होता है, पर कामयाबी नमीब नहीं होती । रावण और दुर्योधन खूब लड़े और कभी-कभी अब जीते-अब जीते-से मालूम भी हुए, पर जीत हुई राम और युधिष्ठिर की । इसलिए नहीं कि राम ने रावण को मार डाला, या दुर्योधन मारा गया; पर इसलिए कि आज के दिन तक राम और युधिष्ठिर सच्चाई के निशान माने जाते हैं । हुसैन मरने पर भी जीते थे और जीते हैं । हुसैन को लडाई के मैदान में हराने वाले का, नहीं-नहीं, उनको कत्ल करने वाले का नाम आज बहुत थोड़ों को मालूम है; और क्यों मालूम हो ? वह जीतने पर भी हारा था । हुसैन हैं, पर वह कहाँ है ? राम, युधिष्ठिर,

हुसैन अपनी अन्तरात्मा की बात पर डटे रहे और इसलिए उनकी जीत हुई और आज तक जीवित है। ये घमण्डी या हठी न थे, नम्रता की मूर्ति थे। स्थिरता और नम्रता बहने है। हठ का नम्रता से कोई मेल नहीं। आफतों पर या उनके कारणों पर जीत बोलने के लिए जरूरत होती है उन जवानों की, जो जिन्दगी के उरलो पर बहादुरी के साथ डटे रहते हैं। क्या हमने वैसी आदत डाल ली है? यदि हाँ, तो आफतें हमारा कुछ न चिगाड़ सकेंगी।

ईसा को क्रूम पर चढ़ाने वाले का नाम कौन जानता है? ईसा तो आधी दुनिया के दिलों में घर बनाये बैठे हैं। ईसा ने कौन-सी लड़ाई जीती थी? ईसा अपने जमीर की आवाज सुनते थे, और उसी को सुनाते थे।

मौके पर फुरती से, पर बिना धवराये धीरता से काम लेने वाले की जीत हुआ करती है। उतावले बनकर या धवराकर कुछ करना धीर-वीरों का काम नहीं। उतावलेपन का जीत से कोई सम्बन्ध नहीं। बिना विचार, उतावलेपन से लड़ाई या लडाइयाँ जीती जा सकती हैं, पर विजय-लक्ष्मी के दर्शन नहीं हो सकते। विजय-लक्ष्मी उतावलों को नहीं वरती; उतावले उसकी नजर पर नहीं चढ़ते; इसे तो धीर-वीर ही सुहाते हैं। 'वीर' धीर होता ही है। धीरता अज्ञानक नहीं मिलती, उसका अभ्यास करना होता है। महाभारत में विजय अर्जुन की नहीं हुई, जीत हुई कृष्ण की या युधिष्ठिर की। हिन्दू कृष्ण को पूजते हैं; युधिष्ठिर को धर्मराज कहकर पुकारते हैं। अर्जुन को बहादुर मानते हैं, महारथी मानते हैं। असल में अर्जुन मन का रूपक है और कृष्ण आत्मा का। मन होता है उतावला। वह कुछ कर सकता है, तो एक बन्की आत्मा होती है गम्भीर। स्थिरता, धीरता, मुस्तकिल-मिजाधी उसकी खासियतें हैं, मन की नहीं। मन आफतों में फँसा सकता है, फँसाने पर रुला सकता है; पर न विजय दिला सकता है और न उनसे छुटकारा। मन का काम है अहंकार, खुदी। खुदी (अहंकार) गिरावट की सीढ़ी का एक डंडा है। गिरावट जीत से दूर होते चले जाने का नाम है। इसलिए मन के चक्कर में फँसर तुम अहंकार की तसल्ली पर उतर

आओगे और समझौते पर राजी हो जाओगे। समझौता आफतों को दम लेने का अवसर दे देता है और इसलिए सुख देता सा मालूम होता है। वास्तव में होता यह है कि आफतें दम लेकर दूने जोर के साथ फिर हल्ला बोल देती हैं और फिर समझौता करने वाले को हाथ मल-मलकर पछताना पड़ता है।-

समझौता कानों को अच्छा लगता है। हार कानों को कड़वी मालूम होती है, पर समझौता हार से कहीं बुरी चीज है। समझौता हिजडा है; हार औरत है। हार, हार, हार—हारो का जोड़ जीत। समझौता, समझौता; समझौतो का जोड़ पतन, मौत। हार में देह को हानि पहुँचती है, कायरो का मन भी दुःख मानता है। कायरो का मन देह से लगाव भी रखता है। हार से धीर-वीर का मन दुःखी नहीं होता, कमजोर नहीं होता, उलटा बल पाता है। जब मन पर ही असर नहीं होता; तब आत्मा पर असर की चर्चा करना बेकार है। समझौते में अन्तरात्मा सिकुड़कर रह जाती है। वीर का मन फुंकारता है। कायर का मन आराम की सोंस लेता है। पर वीर और कायर दोनों ही की देह उस समय तो आफतों से बच जाती है और कायर तो पुकार ही उठता है—‘जान बची लाखों पाये।’ समझौता बहुत बुरी चीज है। समझौते की दोस्ती हिजड़े की दोस्ती है। हिजडा वक्त पर सदा धोखा देता है। समझौते को साथ लेकर कभी आफतों में नहीं कूटना चाहिए। समझौते के साथ कूटने में आफतें घटने की जगह बढ़ेगी और हम जिन्दगी-भर के लिए दासता के पिजड़े में बन्द कर दिये जायेंगे।

‘लाल’ एक छोटा सुर्ख चोंच का खूबसूरत पक्षी है। उसकी मादा को ‘मुनिया’ कहा जाता है। लाल मुनिया के लिए लड़ते हैं। लाल लड़ाने वाले खास-खास लालों को मजबूत बनाते हैं। जिस खास लाल ने किसी एक लाल को कुश्ती में जीत लिया तो, उम खास लाल का वह हारा हुआ कहलाने लगता है। उसका नाम ड्योढा क्यों रखा गया, इसका पता नहीं। ड्योढा, शायद इस नाम में ‘मेहतर, प्रजापति’ आदि शब्दों की तरह कोई

दार्शनिकता हो। खैर, वह ड्योडा कितने ही अच्छे ढंग से बहिश्त में पले, पर ड्योडा ही रहेगा, यानी जब भी अपने जीतने वाले से लड़ेगा, हारता ही रहेगा। समझौते में यही ऐत्र है। वह आदमी को अपने प्रतिपक्षी का ड्योडा बना देता है। समझौते का अर्थ ही सिद्धान्तों से हटना है। समझौते से हम यह बताते हैं कि हम मूर्ख, असमर्थ हैं; हमारा आत्मा उतना ऊँचा नहीं है, जितना प्रतिपक्षी का। हार से हम यह बताते हैं कि हमारा आत्मा तो बहुत ऊँचा है, पर हमारी देह निर्बल है, हमारे साधन अपूर्ण हैं। हम प्रबल-देह और साधन-पूर्ण होकर जुटेंगे और जय बोलेंगे। पाण्डव जुएँ में हारे थे; आत्म-बल में वे हारकर भी जीते थे। हुसैन साधनों में अपूर्ण थे, धूर्तता में हारे थे, आत्म-बल में नहीं। वर्तमान लडाईँ में बहादुर जहाजी कप्तान घिर जाने पर जहाज डुबा देगा; दुश्मन के हाथ में नहीं जाने देगा। रूसियों ने जर्मनों को खाली गाँव दिये, आत्माएँ नहीं दीं; गाँव रूसियों ने फिर ले लिये। फ्रांस, यूनान, ब्रेल्लिजियम ने आत्माएँ दी, फिर गाँव तो गए ही। जब आत्माएँ वापिस ले, तो गाँव मिलें।

यह समझ बैठना भूल है कि वक्त पर हिम्मत हिजडों में भी आ जाती है। जरा मोचने पर यह भूल दूर हो सकती है। बिना विचारे हिम्मत कर जाने का नतीजा सफलता हो सकती है, पर बहुत कम। और अगर किसी वजह से हो ही जाय तो टिकाऊ नहीं होती। आम तौर से उमका नतीजा हार ही हुआ करता है। वीर में सोडा-वाटर जैसा उत्राल नहीं आया करता। उममें निरन्तर टहकती आग रहती है। कारण पाकर ही टहकती आग ज्वालामुखी का रूप धारणकर चमत्कार कर जाती है। वीर अचानक पैदा नहीं होते। वे बरमों की मेहनत से तैयार होते हैं। हाँ, वीरत्व का बीज सब में है; पर उसको वृक्ष का रूप देने में समय लगता है।

समय की सूझ पर लोग भरोसा किये बैठे रहते हैं। वह समय पर कभी न आयेगी। समय की सूझ वास्तव में उम अनुभव-शक्ति का दूसरा नाम है जो हर एक आदमी में रहती है और जिसके बल पर वह अनेकों कष्ट हँसते-हँसते भेल लेता है। इस दुनिया में भाग्य को भी

स्थान है, पर जीवन् में एक ही बार। भाग्य से मिली जीत के सम्बन्ध में कभी ठंडे दिल से खोज नहीं की गई; नहीं तो पता चलता कि जीत भाग्य की नहीं हुई, किसी और ही की हुई है। अन्धे के हाथ बटेर लग जाने से अन्धा शिकारी नहीं माना जा सकता।

अन्तरात्मा, जमीर और उसकी बात से कुछ लोग चिढ़ते हैं। वह मन या मस्तिष्क को ही सब-कुछ मानते हैं। मन-मस्तक उन्हें कुछ दिखाई-से देते हैं, ठीक-ठीक तो वह भी दिखाई नहीं देते। खैर, इस मानवी-मशीन का मस्तक भी बड़ा जबरदस्त पुर्जा है। आइये, उसे समझा लें। अन्तरात्मा को भुलाकर मन के मानने वालों ने मन को दो तरह का माना है। एक ऊपर का मन (Conscious mind) एक भीतर का मन (Sub-conscious mind) भीतर के मन को वे करीब-करीब अन्तरात्मा-जैसा ही मानते हैं। इस अन्तरात्मा से मिलते-जुलते 'भीतर वाले' को भी छोड़िये। भीतर केवल ऊपर का मन है।

मान लीजिये, आप तैरना नहीं जानते। चले गए गहरे में, वहाँ लगे डूबने। इतने में एक जवान दौड़ता है और अपनी जान जोखिम में डालकर आपको बचाता है। उसने क्यों बचाया? क्या इसका जवाब इतना काफी हो सकता है कि उसने डूबते देखा। आँखों ने मस्तक को खबर दी। मस्तक ने देह को हुक्म दिया। देह कूट पड़ी। पॉव तैरने में मदद देते रहे। हाथों ने डूबते को घसीट लिया। मानो आदमी नहीं, बचाने वाली मशीन थी। खैर, मशीन नाम से हमें चिढ़ नहीं—वह मशीन ही सही—पर नदी के किनारे खड़ी और मशीनें क्या करती रही ?

आदमी मशीन ही सही, पर वह जानदार मशीन है। वह मस्तक, जिसको तुम एक पुर्जा समझते हो, पुर्जा ही सही; पर वैसा पुर्जा आदमी की बनाई मशीनों में नहीं मिलता। आदमी में वह पुर्जा है। कहाँ से आया, कैसे आया, इन बातों को जाने दीजिये। देखना यह है कि किनारे पर खड़ी अनेको मशीनों में से एक मशीन के पुर्जे ने ही इतनी फुरती क्यों दिखाई ? उस पुर्जे के मालिक ने वरसो तैरना सीखा, डूब-डूबकर जान बचाना सीखा,

डूबते हुए बचाने वाले को भी किस तरह ले डूबते हैं, ये सब बातें जानीं, उनके घबराहट में किये कामों से बचने के उपाय सीखे, और तब कही उसे वह फुरती से कटम रखना आया जो उसने आज कर दिखाया ।

मतलब यह कि अन्तरात्मा की तरह मस्तक को भी तैयारी की जरूरत होती है, और यह कि बड़ी-बड़ी तकलीफ में होकर ही समय की सूक्ष्म-जैसी कला सिद्ध होती है । पहले मन देवता को पहचानना होगा, उसे सबल बनाना होगा । कल्पना-कवूतरी को दरवाजा खोलकर उठाना होगा और उसे जबरदस्ती घंटों उड़ते रहना सिखाना होगा । विवेक-हंस को ज्ञान के मोती चुगाने होंगे, और उससे सचाई के दूध में से भूठ के पानी को अलग करना सिखाना होगा ।

इस प्रकार मन को और मन की अनेकों ताकतों को बढाने में स्वार्थ नहीं है; और उसकी खातिर जिनको छोड़ना पड़े, वह छोड़ना त्याग भी नहीं है । यह सब तो अपने से ठीक-ठीक काम लेना है । अपने-से ठीक-ठीक और पूरा काम लेना ही धर्म है । कबीर की इस बात का कि हथेली पर सर रखकर आओ तो ईश्वर मिलेगा, यह अर्थ नहीं है कि रेल के आगे कट मरो । उसने खुद भी तो ऐसा नहीं किया । उन दिनों रेल नहीं; बनारस के किनारे गंगा तो थी । नेक बनने में कोई नेकी नहीं है । नेकी तो नेकी करने में है । नेकी करने में भी इतनी नेकी नहीं है, जितनी नेकी, नेकी कर भूल जाने में है । नेकी कर, नेकी की नेक'चाहें भी, नेक चैन न लेने देंगी । सुखी होने के लिए उसे मूलना ही होगा । नेकी करना निकम्मों का काम नहीं, कमजोरों का भी नहीं । कमजोर चिड़चिड़े होते हैं । चिड़चिड़ेपन से भलाई दूर भागती है ।

तकलीफों का नामना करने के लिए मनोबल बढाना ही होगा । मनोबल बढाने से भी ज्यादा जरूरी है, उस मनोबल से काम लेना और यही तो सबक है जो सीखना है । यह सबक पैदा होते ही शुरू हो जाता है । प्रकृति चयन-बालक में भूख का कौटा चुभोती है । बालक चोर से चिल्ला-चिल्ला-कर जमीन-आसमान एक कर देता है । उसमें दूध तो उसे जिनकी गरज

हो, देता ही है—पर उसके फेफड़े खूब मजबूत हो जाते हैं। यह काम बालक आप ही कर सकता है, कोई और नहीं। जवान उम्र के लिहाज से समाज के सामने बच्चा है। उसका यह हक है कि बड़े होने तक दूसरो से अपने लिए खाना हासिल करे और मजबूत बने। अपने 'मै' को उपयोगिता की नींव पर मजबूत खडा कर दूसरो के 'मै' को समझना आना चाहिए और टक्करो से बचना चाहिए। घमड की नींव पर खडे 'मै' ही टकराते हैं। मिल-बैठकर काम करने के लिए 'मै' का मजबूत होना जरूरी है।

'मै'-ओं का ठीक-ठीक निर्वाह ही दुनिया की बढवारी कहलाती है। इसी को विकास (Evolution) नाम दिया गया है। विकसित 'मै' यह जान लेता है कि सुखी रहना एक कला है। इससे स्वच्छन्दता की चाह नहीं रह जाती। स्वतन्त्रता प्यारी लगने लगती है और फिर अकेले ही नहीं, सब मिलकर उस ओर बढने में लग जाते हैं, जहाँ हमें पहुँचना है।

दो शब्दों में, 'हम हैं' के साथ-साथ विचारशीलता जाग जाती है, विवेक चमक उठता है। जीते रहने की जरूरत मालूम होने लगती है। इसलिए हमारा यह परम कर्तव्य है कि हम अपने 'मै' को सच्चा 'मै' बनाये। यही सच्चा 'मै' हम पर आई आफतों को कम कर देगा, दूर कर देगा और देह पर आई आफतों को मन या आत्मा तक न पहुँचने देगा। तब हम तकलीफों में हँसने का चमत्कार दिखा सकेंगे और सबको अचरज में डाल देंगे।



: ६ :

सुख की राह

आइए, पहले यह समझ लें कि सुख है क्या ? लेकिन यह क्या कोई समझने की चीज है ? सुख भले ही सैकड़ों तरह का हो, पर मैं तो तभी अपने को सुखी मानूँगा, जब मुझको वह सुख मिले जिसे मैं चाहता हूँ । मैं प्यासा हूँ, मुझे पानी पिलाकर ही आप सुख पहुँचा सकते हैं, न खाई उड़ाकर और न धर्म का उपदेश सुनाकर । ठीक, गिलकुल ठीक ! प्यासा पानी पीकर ही सुखी होगा; पर न एक घूँट पानी उसको सुखी कर सकता है और न एक घड़ा । उसे एक गिलास ही पानी सुखी कर सकता है । पर क्या मैं आपसे यह पूछूँ कि अगर आप भी प्यासे हो और आपका कोई बहुत प्यारा भी, और पानी हो सिर्फ एक गिलास तब आपका सुख किनमें होगा ? तब ? तब मेरा सुख होगा, उस प्यासे को—अपने प्यारे को—पानी पिला देने में और खुद प्यासे मर जाने में । अगर यह बात है, तो आपको सुख का मतलब समझाने की जरूरत नहीं । सुख को सब समझते हैं और ख़ुब समझते हैं । ठीक समझते हैं । सुख एक ही किस्म का है और वह है उसके मन की भावना में । फिर दुनिया दुखी क्यों ? अपने अन्दर के सुख को क्यों नहीं ण लेती ? बात अगल में यह है कि उस अन्दर की चीज पाने को भी चाहिए हिम्मत । हिम्मती ही सुखी है । हिम्मत का ही नाम सुख है । सीता में हिम्मत थी, चल दी पनि के साथ जंगल । जंगल में नंगे पाँव चलकर पड़े झाले दुख देते होंगे देखने

वालो को, या आज रामायण सुनने वाले भक्तों को, पर वह सीता को दुख नहीं देते थे। दुखी थी कम-हिम्मत उर्मिला, जो रिवाजों की दासी-बनी रही और महलो के दुख-सुख भोगती रही। क्यों-न चल दी पति के साथ ? उसके लिए मैथिलीशरण गुप्त आँसू बहाकर उर्मिलाशरण भले ही-बन जायें, वाल्मीकि और तुलसी उसे दुनिया के सामने लाने की हिम्मत नहीं कर सकते। उन्होंने हिम्मती जानकी को आदर्श मानकर जानकीशरण बने रहने में ही अपना और औरों का भला समझा। जानकी सुखी थी और आजीवन सुखी रही। सुखी होने के लिए इस सुखी सीता को नमूना समझकर रूढ़ियों के कौंटो को कुचलते, पाँवों में छाले डालते आगे बढ़ते चले जाने की जरूरत है।

“पराधीन सपनेहु सुख नहीं”

यह सूत्र उसके मुँह से निकला मालूम होता है, जो देश-फरोशी, दिमाग-फरोशी, आत्मा-फरोशी करके दुश्मन के हलवे-मॉडे पर पलकर मोटा-ताजा होता जाता है और चैन नहीं पाता तथा सुख जिससे हर घड़ी दूर होता जाता है। वह हिम्मत कर पीले और सफेद ठीकरो पर लात मारता है तथा खुली हवा में टम लेकर, दरिन्दे की तरह चंहचहा उठता है:—

“पराधीन सपनेहु सुख नहीं,
निजाधीन दुख सुख बन जाहीं।”

भगवान् कृष्ण ने अर्जुन के साथ और किया ही क्या था ? उसकी सोई हुई हिम्मत जगाई थी। वह दुविधा में था, दुविधा ही दुःख है। दुविधा हिम्मत की कमी का दूसरा नाम है। दुविधा यही तो है न ? रूढ़ियों-रिवाजों का गुलाम बनकर चला जाय या अन्तरात्मा जमीर की हुकमबरदारी की जाय ? अर्जुन ने यही तो सोचा था, “लोग क्या कहेंगे”, इसकी परवाह करूँ या “मेरा भगवान् क्या कहेगा” इसकी ? उसका भगवान् कौन ? उसके मन में बैठा राम, वही राम तो कृष्ण है, वही राम सात-सौ श्लोको की गीता मैदाने-जंग में कुछ सैकड़ों में सुनाकर अर्जुन की कमान

पर तीर चढा देता है । वह तीर चढाने वाला हम-सब के मन में बैठा है ।
“वस जरा गरदन झुओ, देख लो ।”

और हमारे प्यारे नबी, मुहम्मद, ने क्या किया ? ईरान, रोम और ईथियोपिया के गुलाम अरबों में हिम्मत फूंक दी । काब्रे के तीन-सौ-साठ बुत काब्रे में ही थे; पर हमारे नबी और उनके सच्चे साथियों के दिल में वे लकड़ी के तीन-सौ-साठ टुकड़े थे । बुत काब्रे की ईंट-पत्थर की तरह नबी की नजरो में, लकड़ी का ढेर थे; तभी तो वह बुतों के वहाँ रहते हुए भी काब्रे का तवाफ (परिक्रमा) कर गए । नबी बुत-शिकन नहीं थे । वह बुजदिली-शिकन थे । कायरता को कुचल डालने वाले थे । लकड़ी-पत्थर तोड़ते वह क्या भले लगते, उन्होंने तोड़ी गुलामी, बुजदिली, कायरता । अरबों के दिल से कायरता हटी, हिम्मत आई, बुत दिल से हटे, फिर काब्रे से भी उठ गए और लकड़ी लकड़ी की तरह काम में आ गई । यह याद रखिये, बुत-शिकनी बुत-परस्ती है । बुत-शिकन बुत को खुदा मानकर उसको तोड़ने जाता है और दिल में सोचता और कहता जाता है, “मैं तुम्हें तोड़ता हूँ, वता तू मेरा क्या बिगाड सकता है ?” जब कि बुत-परस्त उस बुत को खुदा की याद का एक जरिया मानता है । हमारी जवान क्या है ? एक मास का टुकड़ा, पर उसको हिला-हिलाकर तो हम खुदा की याद करते हैं । कुरान और गीता क्या हैं ? स्याही-रंगे कागज के टुकड़े, पर उनको पढ़-पढ़कर हम राम-रहीम को पाना चाहते हैं । कोई बुत-परस्त या नाबुत-परस्त उनको खुदा नहीं कहता और न मानता है ! खलीफा उमर ने अरबों का एक बुत और हटाया । काब्रे में लगे ‘सरो-असबद’ (काले पत्थर) को चूमते वक्त वे कहा करते थे, “है तो तू एक पत्थर का ही टुकड़ा, पर मैं तुम्हें सिर्फ इसलिए चूमता हूँ कि नबी ने तुम्हें बोला दिया था (चूमा था) ।” नबी ने बुतों का तवाफ किया । बुत लकड़ी बन गए और लकड़ियों में पटुन गए । खलीफा ने पत्थर को पत्थर कहा, पर उसे पत्थरों में नहीं पटुन सके । नबी नहीं थे, खलीफा खलीफा । मुसलमानों ने नबी की राह बन्द कर दी और बीगवी मदी ने खलीफा की । मुझे तो खलीफाओं के याद मुसलफा-कमाल ही मुसलमान हैं, पर पता

नहीं उनको इस सदी के कितने मुसलमान मुसलमान मानते हैं ? हाँ, सन्तों में मुसलमान हुए, हुकमरानो में बहुत कम ।

करोडो दुखी है, दुःख दूर भी करना चाहते हैं; पर राह चलेगे मन की, जमीर की नहीं । प्रकृति के नियमों को तोड़कर ही चलेगे । भूखे मरेगे, नगे रहेगे या फिर शराब पिँगे, बेहोश रहेगे, मदहोश बनेगे और कपडों से लडकर चलेगे । पेट को ठूँस-ठूँसकर भरेगे, मानो वह किसी बजाज या हलवाई के गोद लिये लडके है । मजाक उड़ायेगे किसका ? साइन्स का, ज्ञान का, यानी अपना । साइन्स आखिर इन्सानी तजरबे का निचोड ही तो है, उससे चिढ क्यों ? रुपये से अगर कोई ज़हर मोल लेकर खा ले, तो अपने सारे रुपयों से चिढकर उन्हें फेंक तो न दोगे । यूरोप पागल होकर अगर साइन्स से भूचाल का काम ले, तो इसमें साइन्स का क्या दोष ? इस तरह पागलपन होता रहा है, हो रहा है, होता रहेगा । यह पागलपन किसी समझदार को क्यों बेज़ार करे ? जिन्दगी के कानूनों को मानकर ही सुख मिलेगा । विज्ञानियों की तरह तह तक पहुँचकर ही सुखी हो सकते हो ।

महावीर, बुद्ध, ईसा, मुहम्मद ऐसे ही विज्ञानी थे, जैसे आर्किमीडिस, न्यूटन, एडीसन इत्यादि ! ये बिजली और भाप के किस्सों में पडकर लगे दुःख के कारणों की खोज करने और उन्हें खोज भी लाये । कुदरती कानूनों पर चलकर ही कुछ कर जाओगे, नहीं तो जिन्दगी बेकार जायगी ।

जिन्दगी की आज की समस्याएँ पुराने हल से नहीं सुलभेंगी । पुराने और नये दो अलग रास्ते हैं, वह कही नहीं मिलते । माला के दाने सूत से तो मिले रहते हैं; पर वे आगे-पीछे नहीं हो सकते । हम हिम्मत और स्पिरिट तो कृष्ण, वीर, बुद्ध, ईसा और मुहम्मद की अपनार्योगे, पर हम हम ही रहेगे । स्टालिन, लेनिन बनने चलता, तो न लेनिन बनता और न स्टालिन । मुस्तफा-कमाल, खलीफा उमर बनने की कोशिश करता तो तुर्की का यह नक्शा ही न होता । गांधी ने गीता पढी, सुदर्शन-चक्र ही नहीं सम्भाला । जैन उसे जैन कहने लगे, ईसाई ईसाई, मुसलमान मुसलमान, और हिन्दू

हिन्दू । वह तो गांधी ही है और गांधी ही रहकर देह त्यागेगा ।^१ तुम तुम बनो । माला में अपनी जगह के मोती बने रहो । हिम्मत के सूत्र के सहारे टिके चमकते रहो ।

ठीक है, सरकार ने पुलिस तैनात कर रखी है । वह चोर को पकड़ेगी । मजिस्ट्रेट उसको दण्ड देगा । जेलखाना बन्द रखेगा । तो क्या इस नाते घर में आये चोर का मुकाबला करना छोड़ देते हो ? तुम पुलिस की वाट नहीं जोहते, चोर को पकड़ते हो और अगर वह हाथापाई पर उतर आता है, तो मुक्के भी जमाते हो । ठीक इसी तरह, जो खुदा करता है, वही होता है । जो तकरीर में लिखा है, वह भुगतना ही पड़ेगा—क्या इस नाते हाथ-पर-हाथ रखे बैठे रहोगे ? अगर ऐसा करते हो तो तुम कम-हिम्मत हो । सुख न पा सकोगे । हाथ, पाँव, मन, मस्तक जो तुम्हारे पास हैं, वह काम के लिए हैं, सिर्फ दिखाने की चीज़ नहीं । खुदा के सच्चे मौतक़िद हजरत मुहम्मद हाथ-पर-हाथ रखकर नहीं बैठे; तीर-कमान लेकर फौजी जनरली भी की और बादशाह बनकर अदलो-इन्साफ भी बँटा । बाप बनकर बेटियों को पाला-पोसा और नाना बनकर धेवतो को पुत्रकारा ही नहीं; उनके ऊँट बनकर उन्हें पीठ पर चढ़ाया । लेकिन याद रहे, जनरली, बादशाही, बापपन और नानापन—किसी को उन्होंने अपने सर पर नहीं चढ़ने दिया । सिपाही को बन्धे चढ़ाया, पर जनरली को मुँह न लगने दिया । जनरली की मुँहचोर घोड़ी की हड्डियाँ उनके रानों के बीच में हमेशा चर-चर बोलती रहीं । गुलाम तक को सर चढ़ाया, पर बादशाही की शैखी उनके जानुओं की रगड़ से मुँह की राह फेन उगलती रहीं । खजूर के तिनकों का बिझौना और उनके रुखे-सूखे फलों की लुगक जब बादशाही को मिले, तो वह अकट भी कैसे पाये ? शायद ही कोई बाप हजरत-जैसा अपनी बेट्री को प्यार करने वाला मिलेगा; पर बादशाही की हैसियत से वफात पाने पर भी न एक चूषा जमीन छोड़ी और न एक कौड़ी नकदी । जो खुदा का मौतक़िद और हिम्मत का पुतला है, वह अपनी औलाद के लिए खनकने टोकने तरके में

१. यह लेख गांधी जी के निधन से पूर्व लिखा गया था ।

नही छोड़ जाता; उनको दे जाता है हिम्मत का खजाना ।

‘जो किस्मत मे लिखा है, वह होकर रहेगा’, ‘क्रिया कर्म भोगना ही पड़ेगा’—यह कहा महावीर स्वामी और बुद्ध भगवान् ने । पर वह कब हाय-पर-हाय धरकर बैठे ? वह तो बैठ सकते भी नहीं थे । हज़रत मुहम्मद ने गदशाही कमाई, पर उसे अपनाया नहीं । यह दोनो (महावीर, बुद्ध) उसे ओढ़े-ओढ़े आये और उतार फेंका । हिम्मत वालों को दूसरे की दी हुई चीज़ पसन्द नहीं आती, भगवान् की भी दी हुई नहीं । जिस्म मॉ-बापसे मिला था, छोड़ा नहीं जा सकता था, पर उसे छोड़ा—जैसा ही बना रखा था, किराये के मकान की तरह, भले किरायेदार की हैसियत से, उसे खूब लीपा-पोता, पर अपनाया नहीं । ये दोनो राजकुमार राजकुमारपन का बलक धोने के लिए कुछ दिनों भूखे-प्यासे रहे, पर कुछ ही दिनों; उसके बाद इतने काम मे लगे कि आज ही रेल, तार, हवाई जहाज़ की दुनिया उनके काम का हिसाब नहीं लगा पाती । राज-पाट छोड़ना क्या कम हिम्मत का काम है ? पर उससे भी ज्यादा हिम्मत का काम है राजपना छोड़ना, जो इन दोनो राजकुमारो ने यो ही छोड़ दिया । असल मे इन्होंने छोड़ा पुराना रास्ता और निकाली नई सड़क । इन्होंने विज्ञानियो की तरह परीक्षण किये और सच्चाई तक पहुँचे । उँगलियों भुलसाई, हाथ गलाये तब कुछ पाया । इन्होंने फटकारे सही और आज भी यशोधरा के उलाहने सुन रहे हैं । अपनी देह तुडवाई, पर मिढान्त की देह पर खरोच तक न आने दी ।

समझ लीजिए और खूब समझ लीजिए कि सिर्फ सन्चे, पक्के, पूरे ज्ञान से जीवन सुखी नहीं हो सकता । उसमे हिम्मत की पुट देनी ही होगी । विल्ली की गरदन मे घन्टी बाँधने की बात तुम अक्ल से सोच सकते हो; पर बाँधने की हिम्मत नहीं—तो सोचने की बात ब्रेकार है । जेहिम्मत वाले के दाना टिमाग को ठस ही रहना पड़ेगा । अर्जुन के ज्ञान को हिम्मत का पुट दिया गया था । स्तालिन के ज्ञान पर हिम्मत के कई पुट लगे हुए हैं । वह लोहे का नहीं है; ग्वन, मोस, चमड़े का ही है । पर उसका नाम

लोगो ने लोहे का आदमी रख लिया है । १ ।

और भी आदमी हैं, तुम भी आदमी हो । जो कसौटी औरों के पास है, वही तुम्हारे पास है । फिर तुम अपनी कसौटी पर कसकर ठीक-बे-ठीक की पहिचान क्यों नहीं करते ? तुमको जलेबी बनानी आती हो, या न आती हो; पर तुम खाने पर अच्छा न लगने पर होशियार-से-होशियार हलवाई की कारीगरी में नुक्म निकालने के हकदार हो । क्या करना ठीक है, क्या बे-ठीक, इसे समझ सकते हो और बड़े-से-बड़े वेदपाठी की भूल पकड़ सकते हो । दूसरों की कसौटी पर कसी बातें न अपनाओ और अगर अपना ही बड़े, तो अपनी कसौटी पर कमकर देख लो । अपनी कसौटी पर कसी बात सच्चे एतकाट के नाम से पुकारी जाती है । उसी का नाम सच्चा विश्वास है । वही सम्यक-दर्शन है । इस विश्वास में बड़ा बल मिलता है । सच्चाई तुम्हारी और रहती है; और तुम्हारा बल सौ-गुना हो जाता है । दूसरों की कसौटी पर कसी बातों में तुम्हें शक रह सकता है और रस्ती-भर शक लाखों मन अक्ल को ब्रेकार कर देता है, ब्रेजान बना देता है । जीवन में यह बड़े मार्के की बात है । कर्ण के रथ को हॉकने वाला शल्य था । शल्य करते हैं शक को और कर्ण कहते हैं कान को । शक हमेशा कान की राह दिल-दिमाग में दाखिल होता है । सुना-सुनाया धर्म शक से खाली नहीं होता । कर्ण के दिल में अपनी जीत के बारे में शल्य ने शक पैदा कर दिया था और यां उसको कमजोर बना दिया था । अर्जुन भी रुढिवादी और शक्की था, कमजोर था । उसको गीता सुनाकर, कृष्ण ने शक दूर कर बलवान् बना दिया था । कर्ण की हिम्मत खसौटी गई । अर्जुनमें हिम्मत टूँती गई । एक क्षण के लिए भी अर्जुन का यदि कृष्ण (हिम्मत) साथ छोड़ देते, तो वह खतम हो जाता और अगर कर्ण का शल्य चुपचाप सारथी रहता तो जीत कर्ण की होती । अमल में मन और मस्तक की, मंमल (एक दवा) और पुटास से हिम्मत के धड़ाके का चमत्कार पैदा होता है, या मन और मस्तक के गरम-नरम तारों के मिलने पर हिम्मत की चिनगारी निकलती है और

१. रूमी बोली में लोहे के आदमी को स्टाकिन कहते हैं ।

सुख दिखाई दे जाता है, फिर मिल तो जाता ही है ।

कृष्ण, यानी अन्तरात्मा या जमीर की सलाह के सिवाय सब सलाह बेकार । सलाह ही नहीं है, अगर वह तुममें हिम्मत न जगा दे, तुम्हारा शक न मिटा दे, तुम्हारे मन और मस्तक को एक स्वर में न ला दे । विश्वास, लगन, हिम्मत, श्रद्धा, एतकाद (Conviction) सबका एक ही मतलब है । एतकाद के बिना बाहर का युद्ध हमारे अन्दर घुस बैठता है । दुश्मन से लड़ने की बजाय मन-मस्तक आपस में ही लड़ने लगते हैं । बुद्धि कुछ कहती है, मन कुछ । आत्मा के दो टुकड़े हो जाते हैं । खीचा-तानी में दुश्मन को मौका मिल जाता है और सुख की जगह दुःख आ बैठता है ।

दुखी रहना चाहते हो तो किसी की शक न दूर कर सकने वाली नसीहत मानकर न चलो, फिर चाहे वह बाप की हो, गुरु की हो, भगवान् की हो । जब नसीहत के बाद भी शक रह गया, तो नसीहत कैसी ? अगर किसी नसीहत से तुम्हारा शक दूर हो जाय, तुममें सच्चा विश्वास पैदा हो जाय, तो उसी को मानकर चल पड़ो, फिर चाहे वह बच्चे की हो, मूर्ख की हो या शैतान की ।

सुखी रहना चाहते हो तो यह खयाल दिल से निकाल फेंको कि जो कायदे चले आ रहे हैं, वह ठीक है । जो रिवाज चले आ रहे हैं, वह भले हैं । जो पुरानी किताबों में लिखा है, वही आज भी ठीक है । बेशक वह जमीर की, अन्तरात्मा की, कसौटी पर कसी चीजे हैं, पर तुम्हारी कसौटी पर नहीं । अगर तुम्हारी कसौटी पर ठीक उतरे तो अपना लो । फिर वे तुम्हारी हैं, तुम्हारी होकर रहेगी, तुम्हें सुख देगी । यही राह सुख को गई है ।



अहंकार छोड़ो

जवानो, 'मैं' आदमी का सहारा है। 'मैं' जीवन का बीज है, आदमी का तो है ही। 'मैं' नहीं, आदमी नहीं। 'मैं' को बचाना ही चाहिए। उसके लिए जान भी जोखम में डाली जा सकती है। 'मैं' यानी सीधा-सादा मैं तो हमें बनाये रखने के लिए जरूरी है; पर टैं-वाला मैं बनी को बिगाड़ने वाला होता है। टैं से न निभी और न निभेगी। लालच की भूख कभी नहीं मिटती। टैं का पेट भी कोई नहीं भर पाता। टैं में 'मैं हूँ' की भावना रहती है। पण्डितों ने उसका नाम रक्खा है अहंकार। अहंकार का अर्थ है— 'मैं'-पन। यह सबमे है। बहुतों में इसने टैं का रूप पा लिया है। हर टैं-वाला 'मैं' अपने अहंकार के पेट को भरने में लगा है। सारी उम्र लगे रहकर भी वह उसको नहीं भर पाता। 'मैं' की तसल्ली न किमी से हुई, न हो रही है, न कभी हो सकेगी। जवानो, इसकी तसल्ली में लगे, और गये।

अहंकारी अकेले में जब अपनी खोज करता है, वह सचमुच अपनी शलती नहीं पाता। अपने को बिलकुल ठीक पाता है और भी कितने उनको ठीक ही समझते हैं। अहंकार की ऐनक में दिखाई ही ऐसा देता है। अहंकारी को अपने अहंकारी होने का पता भी नहीं होता। वह करे तो क्या करे ? दिक् के बीमार को जिस तरह मौत के बहुत पाम पहुँचकर अपनी बीमारी का पता चलता है, ठीक इसी तरह अहंकारी को आपत्त में फँसर ही अपने में अहंकार के होने की बात सूझती है। अब तीर कमान से छूट

चुका होता है, वापिस कैसे लौटे ?

अहंकारी अपने को अहंकारी नहीं मानते । दुर्योधन और दुःशासन अपने को अहंकारी नहीं समझते थे । जुए में जीत के बाद जीती हुई चीज के भोगने के वह अपने को हर तरह अधिकारी समझते थे । इसमें उनकी भूल कहीं थी? सत्र जुआरी यही करते थे । रावण भी आमरण सीता हर लाने को ठीक ही समझता रहा । अपनी समझ में उसने सच्चाई के लिए जान दी । भले ही वह औरों के लिए अहंकार की वेदी पर बलि हुआ हो ।

हम सब भी अहंकार के साथ ऐसे घुल-मिल गए हैं कि हम अपने को कभी अहंकारी नहीं जँचते; पर दूसरे सब हमें अहंकारी जँचते हैं, दूसरे सब हमको अहंकारी दिखाई देते हैं । यही सबूत है कि हम अहंकारी हैं । जवानों, अपनी इस बुराई को मान लेने में ही भला है । अहंकार को कुचलकर तुम टोटे में न रहोगे । इससे तुम्हारे सीधे-सादे 'मैं' को कोई धक्का न लगेगा । अगर तुम सचमुच घर, दुकान या समाज के ताना-शाह बनना नहीं चाहते और सचमुच तुममें किसी के क्रीत-दास या पिटू बनने की कमी भी नहीं है, तो तुमको अहंकार को भूखा मारने की कला सीख ही लेनी चाहिए । इन्साफ और सहयोग के कंदमो में घमण्ड का सिर डाल देना ही अहंकार को भूखा मारना है । सच से आत्मा ताकत पाती है, इन्साफ से वह आजादी का मजा चखती है और सहयोग में आनन्द मानती है । सहयोग से प्रेम उत्रलता है । प्रेम हृदयों को जीत लेता है । इन्साफ राज जमाता है । ताकत राजरानी है । यह बात सब जगह सच उतरेगी, घर में, दुकान में, समाज में छोटे और बड़े मामलों में ।

पेट भरने पर अहंकार दास-दासियों तैयार करता है; और वहीं भूखा रहने पर सखा-सखियाँ, भाई-बहन, साथी-साथिने बनाने लगता है । अब कहो, तुम्हें दोस्त चाहिए या दास ? दास मौका पाकर तुमसे ज्यादा अहंकारी से ज़ा मिलेंगे । दोस्त तुम्हारा आजीवन साथ देंगे । राज-युग का खात्मा हुआ, घमड़ियों की पंचायत चल बसी । अब जमाना है भाइयों का, साथियों का, हमजोलियों का । इकले का व्यापार कम हो रहा है, साभे की दुकानें

चमक रही है। अहंकार अध-पेट रह रहा है। भूखो मरने के दिन आर है। टै-वाले 'मै' को भूखा मारे बिना गुजारा न चलेगा।

तुम कहते हो, दोस्त नहीं मिलते। हाँ, नहीं मिलेंगे। तुम अहंकार हो, अहंकार छोड़ो तो दुश्मन दोस्त बन जायें। अहंकार पर पाँव रखकर सचाई को सर भुकाओ, हवा बदल जायगी। अपनी शान बढ़ाकर तुम जीवन में विजयी नहीं हो सकते। अपने को फैलाकर, यानी समाज के सच्चे सदस्य बनकर, जीवन आनन्द से बीत सकता है। जय भी मिल सकती है।

अगर तुममें अहंकार बढ़कर काबू से बाहर हो गया है, तो धराने की जरूरत नहीं। उससे चरित्र-संगठन का काम लेना शुरू कर देना चाहिए। इस काम के लिए वह पूरा योग्य है। उसका जन्म ही इसीलिए हुआ है; पर समाज-सम्बन्ध में वह त्रिलकुल ना-तजरबेकार साबित हो चुका है। ऐसे अवसरों पर उसे पास नहीं फटकने देना चाहिए, और हो सके—तो भूखों मार डालना चाहिए। बहुत भावुक बनने से काम न चलेगा। भावुकता के मामलों की ओर ध्यान ही न दो। समस्याओं को समस्या-भर समझो, उनके होकर न रहो। अहंकारवश तुम हर बात को अपनी निजी बात समझ बैठते हो और फिर उसके विगड़ने-बनने से दुःख-सुख मानते हो। यही तो भूल है। इसे सुधारो-समस्याओं और उनके हल के अनुभव से ज्यादा कुछ न समझो, और फिर उसका उन अनुभवों से मौके पर फायदा उठाओ।

टै में आकर कुछ कर बैठना कौरा गैवारपन होता है। टै को कुचल डालना जिन्दगी पर बड़ा गहरा असर डालता है। इस असर की पहुँच सब ओर होती है। बाप ने टै में आकर प्रह्लाद को खो दिया। घर वालों की टै से मीरा हाथ से निकल गई। तुम भी अपनी टै में अपने को न खो बैठना। अहंकार मारकर अपने बेटे तक को अपनी बात प्यार से समझानी चाहिए। उनकी मुहब्बत को बग़र के बनकर हासिल करना बुरा नहीं। अपने बड़े कह गए हैं कि मोलह वर्ष का बेटा, बेटा नहीं, दोस्त हाँता है। बापपन की टै छोड़े बिना वह दोस्त नहीं बन पायेगा। बेटे के दोस्त बनने से बापपन को कोई धक्का नहीं लगेगा; क्योंकि तुम तो उसको दोस्त समझ-

कर सचाई और इन्साफ के साथ अपने कामों का मेल बिठाना चाहते हो। ब्रेटे के साथ इन्साफ के वक्त बराबर का बर्ताव करने से तुम उसकी नजरों में और भी ऊँचे उठोगे। वह अब तुम्हें कोरा वाप ही न मानकर गुरु भी समझने लगेगा; पर तुम यह काम गुरु बनने के लिए थोड़ा ही कर रहे हो। तुम्हारी गरज तो अपने को ठीक बनाने की है।

अहंकार से तुमको बेजा आत्म-बलिदान का रोग भी लग सकता है। बेजा आत्म-त्याग से तुम अपना नुकसान भी कर सकते हो। अहंकार को भूखा मारकर तुम उस बीमारी और नुकसान से बच सकते हो। ज्वरदस्ती किये दान-त्याग, और दिखावे के धर्म के नाम पर किये परमार्थ से बढ़कर दार्शनिकों को और कोई चीज न मिलेगी, जो आत्म-शुद्धि में बाधा डाल सके। उस दान को लेने वाले, उस त्याग से फायदा उठाने वाले, उस परमार्थ को उपयोग में लाने वाले, अपनी आत्मा को मैला कर लेते हैं। उस दान, त्याग और परमार्थ से जो सडॉट निकलती है, वह समाज की सेहत को बिगाड़ कर उसे सदा को रोगी बना देती है।

मैं और टैं-वाले 'मैं' का अन्तर कभी न भूलना। टैं-वाले 'मैं' को छोड़ने की बात कही जा रही है; 'मैं' छोड़ने की नहीं। भूखे मर जाओ, पर उसके हाथ का दिया न खाओ जो सच्चा आनन्द मानकर तुमको नहीं खिलाता। बीमारी में कराहते गहना पसन्द करो, पर उसके हाथ से दवा स्वीकार न करो जो सच्चा आनन्द मानकर तुमको दवा नहीं दे रहा। मतलब यह कि सच्चे मन से न किये उपकार का बोझा अपने ऊपर लादकर आत्मा को न दवाओ। यह अहंकार नहीं है, सच्चे 'मैं' की शान है, पहचान है। ऐसी आत्माएँ ही फलती-फूलती और फैलती हैं।

आदमी हिल-मिलकर रहने वाला प्राणी है। अहंकार हेल-मेल में टोंग अड़ाता है। या, दसको भूखों मारने की कही जाती है। हिलमिल कर काम करने का यह मतलब हरगिज नहीं है कि औरों के साथ मिलने में तुम अपने गुण ही खो बैठो। तुम्हारी विशेषताएँ तुम्हारे साथ रहनी ही चाहिएँ और वे हेल-मेल से और भी फूले-फलेंगी, सुरम्भाएँगी नहीं। औरों

की विशेषताओं को तुम अपनी भी कैसे कह सकते हो और अगर अपनापने की कोशिश कर कुछ अंशो में अपना भी लो, तो निभाव न हो सकेगा और जल्दी ही हेल-मेल में फर्क आ जायगा। अहंकार भूखा मर सकता है, भगडा नहीं करता। हेल-मेल में अहंकार को भुंकाने की बात हम कह ही नहीं रहे। हम सिर्फ यह कह रहे हैं कि हेल-मेल में अहंकार की खुराक न हूँ दो। हेल-मेल पर अहंकार को पालो नहीं। हेल-मेल में तो हम समय की पुकार और जरूरतों को भुंकते हैं, न कि एक दूसरे को। मातृभूमि, यानी मादरे-वतन को एक-एक के भुंकने और मिलकर भुंकने में, किसी के अहंकार को भुंकाना नहीं पडता। किसी के घर में आग लग जाने पर किसी को कंधे पर पानी का घडा उठाने में कोई झिझक नहीं होती। 'मैं' खुशटिल है, 'तू' वाला 'मैं' खिसियाया चुप बैठा रहता है। पटरी से रेलगाड़ी उतर जाने पर सब पत्थर उठाने में लग जाते हैं, कोई एक-दूसरे की ओर नहीं देखता। मतलब यह कि समय को भुंकाने में 'मैं' बनी रहती है, 'तू' आ ही नहीं पाती।

जवानो, अहंकार को मजबूत करने की बात छोडो। 'मैं' बिना न तुम्हारा भला होगा, न समाज का, न देश का। दूसरों को भुंकने की बात हम कह ही नहीं रहे। मिलकर छान उठाने में तुम किसी को नहीं भुंकते; अगर भुंकते हो, तो छाया में बैठने की जरूरत को, जो सबके काम की चीज है। मिलकर दुश्मन का मुकाबिला करने में तुम किसी को नहीं भुंकते; अगर भुंकते हो, तो उस आराम को, जो उन्हें भगाकर पाओगे। मिलकर मुल्क को आजाद करने में तुम किसी को नहीं भुंकते; अगर भुंकते हो, तो उस आजादी की देन को जिसको भुंकने में तुम्हारा 'मैं' बटकर दुनिया में फैल जायगा। और दही जिन्दगी का मकगद है।

यह सब होगा 'मैं' की 'तू' का पेट भरना छोड़ने से।



काबलियत बनाम चापलूसी

तुम कामयाबी की सोचते हो, सफलता के राग अलापते हो। अलापे जाओ, देह इस तरह आजीवन तो मिलनी नहीं। वह न मर्द है, न औरत। उसमें न दिल है, न दिमाग। वह न रीझती है, न खीजती। वह तुम्हारे सोचने और प्रार्थना करने से कभी तुम्हारे पास न आएगी। आजकल प्रार्थना के सबसे सच्चे विश्वासी है महात्मा गांधी। वह भी प्रार्थना में दिन का वहतरवाँ हिस्सा खर्च करते हैं और वह भी वह हिस्सा—जिसको करीब-करीब सारी दुनिया आधा मुर्दा बना रहने में खो देती है। बाकी इकहतर हिस्से, यानी तेईस घंटे चालीस मिनट उनके काबलियत देवी की पूजा में ही जाते हैं। और क्यों न जायें ? उसीने तो उनको महात्मा बनाया है। नाम के महात्मा तो हिन्दुस्तान में इतने हैं कि उनकी नामों की फेहरिस्त से एक जिल्द तैयार हो सकती है, पर काबलियत से बना तो यह अकेला महात्मा है। काबलियत वाले सभी महात्मा होते हैं। काबलियत से भिन्नक दूर हो जाती है। भिन्नक है क्या चीज ? यही कि यह पता न होना कि “मैं हूँ क्या ?” “मैं हूँ क्या ?” के जवाब बताने में काबलियत बड़ी मददगार होती है और यो भिन्नक को दूर करती है। काबलियत आत्मा के चमकाने में सैकल यानी रेगमार का काम करती है। यो ही तो काबलियत वाला वहाँ भी रास्ता निकाल लेता है जहाँ औरों को रास्ता नहीं मिलता।

सवाल हो सकता है कि काबलियत क्या चीज है ?—काबलियत उस

गुण का नाम है, जिसके जरिये हम आफ़तों के जाल में फँसकर बिना धबराये उससे निकल भागने की गली पा लेते हैं ! वह अफ्रीका के साहरा में और अन्ध महासागर की लहरो पर कुतुबनुमा बन जाती है । वह घटाटोप अंधेरी में बिजली की तरह कौधने लगती है । वह डूबते को तूँबी और मरते को रसायन है । वह भरोसे का हथियार तो है ही, पर कभी न साथ छोड़ने-वाली भी है । मुश्किल यही है कि यह काबलियत की देवी जल्दी खुश नहीं होती, पर इससे क्या ? है तो काम की चीज़ । जवानो, जवानी इसी के खुश करने में बिता दो, टोटे में न रहोगे । इससे जिसकी अँख लग गई, वह बुढ़ा भी हो तो जवान हो जाता है और जवानो से कही ज़्यादा जोर से इसके पीछे लग जाता है । ईरान के मशहूर कवि सादी की अँखे चालीस की उम्र में इससे चार हो गईं । फिर क्या था ? इसी के हो गए और चमक गए और चमक रहे हैं । इसे देखते ही चिल्ला पड़े थे, गये यो ही बचपन के चालीस साल । दर्शन करते ही अंधेड बच्चा बन गया ।

बच्चा हजार बार गिरकर भी खीजता नहीं, धबराता नहीं, ऊबता नहीं, ना-उम्मीद नहीं होता, खुश-खुश उठता है और फिर गिरने के लिए चल पड़ता है ! काबलियत 'सखी' उसे मिल ही जाती है । जवानी में यही गिर-उठकर चलने-पड़ने की हिम्मत नब्बे तक रह जाती है, अंधेड में और भी कम, और बूढ़े में बहुत कम । गिर-उठकर चल पड़ने की ताक़त का नाम ही बचपन-भरी जवानी है । बच्चा चलना सीखने में किसी की खुशामद करना पमन्द नहीं करता, उँगली पकड़कर चलना चाहता नहीं, चलने के लिए मजबूर किया जाता है । यो ही तो वह काबलियत 'सखी' को पा लेता है । उँगली पकड़कर चलना पहले तो बच्चे को बुरा लगता है, फिर उसमें लुत्फ़ आने लगता है, फिर चाट पड़ जाती है, आलस और सुस्ती बढ़ने लगती हैं और चुड़ैल चापलूसी हँसी-हँसी आकर हाथ पकड़ लेती है और सखी बन बैठती है । चापलूसी भी है बड़े काम की चीज़; बड़ी दूर तक लें जा सकती है, गुलाम को बाटशाह बना सकती है, गुलाम-वंश का राज हिन्दुस्तान देत चुका है । गुलाम-वंश में बेटे को गद्दी नहीं मिली । काबलियत देवों ने

जिसको बरा, गद्दी उसे ही मिली और उसी से सँभली ।

चापलूसी जल्दी ही खुश होती है और जल्दी ही चमत्कार दिखाती है, तभी तो लोग उसे अपनाते हैं । भरोसे की चीज़ वह नहीं है और कोई आत्माभिमानि जवान उसको मुँह लगाना पसन्द न करेगा । भारत के प्राचीन इतिहास की दोनों पुस्तके, रामायण और महाभारत, काबलियत देवी की खोज में फ़िये हुए प्रयत्न और उठाये हुए कष्टों की कथा के सिवाय और है ही क्या ? तभी तो वह एक भारतीय जवान में रूह फूँक देती है । स्कूल-कालेजों में पढ़ाई जाने वाली हिन्दुस्तान की तवारीख़े चापलूसी की फतह की कहानियाँ हैं, जो भारतीय जवान को नामर्द बनाती, चापलूसी से दोस्ती कराती और हिन्दुस्तान-भर का नहीं तो, प्रान्त का नकली शासक तो बना ही देती है । नौकर से शाह बनना फिर उसे रुचता ही नहीं । वह चापलूसी के मुँह लगता है कि उसकी खातिर जान देने के लिए तैयार रहता है । लागू शेर की तरह उसे अपनी देह का ध्यान ही नहीं रहता । जवानों, चापलूसी चुडैल से बचना ही होगा । चापलूसी को समझ लेना-भर ही उससे बचने के लिए काफी है । चापलूसी और गुलामी बहने-बहने हैं । चापलूसी को अगर काबलियत की सौत होने का मौका हाथ लग जाय तो वह मिनटों में उसको पति की नज़रो से गिरा देती है । चापलूसी रहते वह उसकी याद ही भूल जाता है । वह चापलूसी को ही अपनी तरक्की का सबब समझने लगता है । चापलूसी-पति कितना ही शानी और विद्वान् क्यों न हो, वह अपनी तरक्की औरों के तलवे सहलाने और पंखा झलने में ही समझेगा । नौकरी तो उसे बादशाही जँचती है । चापलूसी-पति कितना ही सफल व्यापारी क्यों न हो; और यदि तीसरी स्त्री लक्ष्मी भी उसके घर में जीती-जागती हो, तो भी वह चापलूसी चुडैल के इशारे पर एक-न-एक दिन कुछ चीज़ ले, थानेदार के सामने हाथ जोड़कर खड़े होने में ही अपना भला मानेगा । चापलूसी आत्माभिमान को निकाल बाहर करती है, हिम्मत को घंटा बत्ता देती है । अन्तरात्मा से बात करने का अवसर ही नहीं देती और असल में

वह अपने पति का कोई काम भी तो अटकने नहीं देती । चापलूसी अपने पति के पतन पर पलती है । आत्मविश्वासी स्वाभिमानी के पास यह एक पल नहीं टिक सकती ।

राम और युधिष्ठिर, दोनों ही आत्म-विश्वासी थे । चापलूसी से इन दोनों को आसानी से राज्य मिल सकता था, पर दोनों ने ही चौदह और बारह वर्ष जंगल में रहकर कावलयत देवी को पुष्ट करने में खर्च किये और चापलूसी चुड़ैल को मुँह न लगाने दिया । समझौता चापलूसी का गुप्त हथियार है । इसे धोखे से कावलयत का अस्त्र न समझ बैठना । समझौते के मौके पर हज़रत मुहम्मद हिराकी गुफाओं में बैठकर कावलयत देवी से अकेले में सलाह करते थे * और यो चापलूसी के डाले डोरों से साफ बच जाते थे । एक राम है, राम अल्लाह है, इस खयाल को फैलाकर वे चापलूसी को दुनिया के परदे से नेस्तनाबूद कर देना चाहते थे । और इसीलिए उन्होंने यह भी बताया कि सिवाय खुदा के दुनिया पर और किसी की सल्तनत नहीं हो सकती; पर दुनिया राम-रहीम को छोड़ चापलूसी की ही बनी रही । अगर वह कावलयत को भी अपनाती तो जल्दी अपने को जानकर परमात्मा को भी जान लेती, और अपने ऊपर आफतें बुलाने से बच जाती । वह न होना था, न हुआ । न सही ।

जवानो ! कोई चापलूसी में फँसे, पर तुम न फँसो । तुममें सौ बार गिर-उठकर चल पड़ने की हिम्मत और ताकत है । तुम कावलयत को हासिल करो, योग्यता को बरो, उँगली पकड़कर चलना छोड़ो । पैरों की लड़खड़ाहट खयाली है । असल में है ही नहीं । सहारा छोड़ा और गई । महाग हटा, विश्वास उपजा और बल बढ़ा । बल बढ़ा, समझ आई और धोखा दूर हुआ । धोखा दूर हुआ और आत्म-शक्ति का पता चला और फिर विचार-स्वाधीनता, बोलने की आजादी, मुल्की आजादी, रूढ़ानी आजादी, सब तुम्हारी है ।

कावलयत की तलाश में निकलो, योग्यता को अपनाओ, जानकारी

क्राबलियत बनाम चापलूसी

बढ़ाओ, जगलो मे भटको, बरफीली घाटियो पर चढ़ो, समुद्र मे भोला
लगाओ, क्राबलियत लेकर आओ और फिर देखो—कौन है, जो तुम्हे नही
पूछता ? कौन है, जो तुम्हारे पास दौडा नही आता ? कौन है, जो तुम्हारी
आजादी मे रोडा अटकता है ?



: ६ :

जिन्दगी के बुनियादी उखल

✓ दिल शीशा है, इसे निराशा की ठेस लगी और फूटा। दिल फूल है, इसे ना-उम्मेदी की हवा लगी और मुरझाया। हिम्मत हीरे जितनी सख्त है सही; पर निराशा की चोट खाकर चूर-चूर हो जाती है। निराशा असल में पूरे अंधे आदमी को बखेर देती है। निराशा की चोट हिम्मत के हीरे पर भूकम्प की तरह एकदम अचानक पडती है। चोट खाने वाला धक-से रह जाता है। कलेजा कॉपने लगता है। आँखों के आगे अंधेरा आ जाता है। पाँव लडखड़ाने लगते हैं। दम निकलने-सा लगता है। ऐसी चोट क्या भुलाई जा सकती है? उसका तो घण्टा, मिनट, सैक्रेण्ड तक मन पर अंकित हो जाता है। यही ना-उम्मेदी धीरे-धीरे आदमी के दिल को धुलाती रहती है। महाभारत में शल्य ने कर्ण में निराशा ही तो पैदा की थी, और आखिर वही उसको खा गई। निराशा बड़ी जल्दी चिन्ता में बदल जाती है। और चिन्ता-चिन्तगारी से कौन वाकिफ नहीं हैं?

चिन्ता हम करते इसलिए है कि निराशा को जी-तोड़ कोशिश के जरिए निकाल बाहर करें; पर लोगो को यह पता नहीं कि चिन्ता निराशा की बेटा है। वह माँ को क्या मार भगायेगी? नतीजा यह होता है कि निराशा पागलपन में बदल जाती है और आदमी समझ बैठता है कि वह सब-कुछ पा गया। सभी पागल अपने को राजा या ईश्वर समझते हैं और अपनी स्वप्नों की दुनिया में मस्त रहते हैं। उनके लिए टीकरे हीरे बन

जिन्दगी के बुनियादी उसूल

जाते हैं, चीथड़े रेशमी कपड़े, और खण्डहर महल। निराशा मेहनत से सम्भलेगी। वह बीमारी है; बीमारी में कसरत मना होती है; पर आराम करना जरूरी होता है। निराशा में शान्ति की जरूरत होती है, चैन से बैठने की जरूरत होती है। निराशा मन की बीमारी है। मन के पाँव के नीचे से जमीन खिसक जाने का नाम ही निराशा है। निराशा में मन बे-सहारे रह जाता है। अब उसे आराम करने की बात भी शायद ही भावे। पहले चारपाई बताओ, पीछे आराम की बात कहो। मन की चारपाई है धर्म; ना-उम्मेदी का वह सहारा है। चारपाई कितनी ही टूटी क्यों न हो, सहारा होती है।

भंग के नशे की तरह निराशाओं में तरंगे उठती हैं। बहुत ऊँची तरंग में अपना कुछ पता नहीं रहता। मामूली तरंग में निराश होने का ज्ञान तो रहता है; पर आदमी कर कुछ नहीं सकता। हलकी तरंग में निराशा का ज्ञान रहता है, साथ में थोड़ी-सी हिम्मत भी उसको दूर करने की रहती है। यही अवसर है, जब निराश को यह भान लेना चाहिए कि वह निराशा के नशे में है। जिन्दगी में कभी ऊँची लहर पर और कभी नीची पर, होना जरूरी है। इसी तरह आशा के साथ रहकर निराशा के साथ रहना भी जरूरी है। निराश होना बुरा नहीं, निराश बने रहना बुरा है। गिर गए, तो गिरे-पड़े न रहो। उठो, जोर लगाओ, उठ सकोगे। कुछ गिरते हैं, उठते हैं; गिरते हैं, फिर उठते हैं। कुछ गिरते हैं, पड़ रहते हैं, फिर उठते हैं। कुछ गिरते हैं तो गिर ही पड़ते हैं। यह बहुत बुरे। यह ठीक है, गरमी और जाड़े में कभी-कभी बाँटल होते हैं और बरसात में हफ्तो छाये रहते हैं; पर यह तो ठीक नहीं कि धूप ही न निकले। कफ-प्रकृति वाले गिरते हैं, गिरकर उठते हैं, देर से उठते सही। हॉ, वात-प्रकृति वालो जैसी तेजी-तरारी उनमें नहीं है, न सही। पित्त-प्रकृति वालो का हँस-मुख चेहरा, फुरतीला बदन, आशा-भरा मन देखकर क्या उदास प्रकृति के लोग उदासी छोड़ने का सबक न लेंगे? हमारी पैदायशी खासियते ना-उम्मेदी में दूसरो की अडचन क्यों बने ?

यहाँ यह याद रहे कि-सुस्त आदमी चुस्तो के साथ रहकर कभी-कभी और भी सुस्त बन जाते हैं और वह ही अपने से ज्यादा सुस्तो में रह-वर चुस्त बन जाते हैं। पैदायशी खासियतें बदली नहीं जा सकती—न सही, उनसे फ़ायदा तो उठाया जा सकता है। “जो है, सो सही” की आदत बहुत बुरी। यह आदत आदमी के पैर पकड़कर बैठ जाती है; आगे बढ़ने ही नहीं देती और बढ़ना जरूरी है। राम, युधिष्ठिर को छोड़िए, उनका इतिहास अंग्रेजों को ठीक-ठीक न मिला, न सही; चन्द्रगुप्त, अशोक, हर्ष-वर्धन, अकबर, शाहजहाँ का गरम^१ हिन्दुस्तान जब ठण्डे बरतानिया से कई गुना चढ़ा-बढ़ा था, तो आज तुम्हारा हिन्दुस्तान दुनिया में वही स्थान क्यों नहीं पा सकता ? मैं यह कह रहा हूँ कि पैदायशी खासियते कुछ भी रहा करे; हमें तरक्की करने का मौका है और ना-उम्मेद होने की जरूरत नहीं।

जो कुछ तुम हो, उसकी शिकायत क्यों करते हो ? तुम्हारे वैसे पैदा होने में कुछ मतलब है। अगर तुम सुस्त पैदा हुए हो, तो क्या ? कवि और दार्शनिक तो बन सकते हो ! इन दोनों की देश को कम जरूरत नहीं रहती। वह सुस्त रहकर भी औरों को चुस्त बना देते हैं। वह निर्बल होकर भी निर्बलो में बल फूँक देते हैं। वह सोते रहकर भी, रो रोकर बराबर शोर मचाकर औरों को जगाते रहते हैं। वह असल में सुस्त नहीं है, सुस्त बदन में चुस्त आत्मा है। द्रौपदी लड़ी नहीं; पर उसकी एक आह, उसका एक आँसू, पाँचों पाण्डवों के द्वारा, दुनिया तहस-नहस कर डालने के लिए काफी था। अपने बालों की लटे दिखाकर श्रीकृष्ण से क्या उसने कौरवों का मटियामेट नहीं करा दिया ?

हाथ-पाँव की तरह हमारा स्वभाव भी हमारे साथ आया है और साथ

१. अंग्रेजों का कहना है कि हिन्दुस्तान गरम मुल्क है, यहाँ के रहने वाले सुस्त होते हैं, ज्यादा तरक्की नहीं कर सकते; बरतानिया ठण्डा मुल्क है, वहाँ के रहने वाले मेहनती होते हैं और तरक्की कर सकते हैं।

जिन्दगी के बुनियादी उसूल

ही चलेगा। उसका रोना भी क्यों रोना ? उसको हटाने की कोशिश बेसुद होगी। उससे काम लेने में नफ़ा है, उसके दास बनने में नहीं। हठ उसकी न रहेगी, हमारी रहेगी। उसे हम अपने पूरेपन को बख़ेरने न देंगे; बंधेपन को खोलने न देंगे। हमारा कमज़ोर बदन ना-उम्मेदी लाये और लाये; हमारी जवान पर ना-उम्मेदी न आने पाये। आशा न रही, तो निराशा भी न रहेगी; भले दिन न रहे तो बुरे दिन भी न रहेगे; तन्दुरुस्ती न रही, तो बीमारी भी न रहेगी; हँसी न रही, तो रोना भी न रहेगा।

गिरते क्यों है ? इसका जवाब सीधा और साफ़ है। जानते तुम हो, फिर पूछते क्यों हो ? लो, सुनो—जमीन ऊबड़-खाबड़ है, मन चंचल है, ध्यान बटता है, देह का सन्तुलन बिगड़ता है, जमीन में खींचने की ताकत है। गिर जाते है; पर गिरते तुम कभी-कभी हो, दिन में एकाध-बार; सारे दिन तो ठीक चलते रहते हो। फिर तुम सारे दिन की बात साँचकर एकाध-बार की बात ही क्यों याद रखते हो ? गिरने-वाले तुम तो हो नहीं, तुम तो चलने-वाले हो। पचास-सौ बरस में कभी एक बार मौत आती है, फिर उस कम्बख़्त को रोज़ क्यों सोचते हो ? जिन्दगी की सोचो, जो दिन-रात तुम्हारे साथ रहती है। तुम मौत नहीं हो, जिन्दगी हो। ना-उम्मेदी आई है, मेहमान है; कुछ देर रहकर चल देगी। आशा तुम्हारी सगी-सहोदरी है। वह न गई है और न जायगी। तुम मेहमान से बातों में इतने मस्त हो गए हो कि अपने की सुध ही भूल बैठे हो। मेहमान को कुछ देर इस तरह अपनाना ही चाहिए। मेहमान के तुम मेजबान हो, वह नहीं। मेहमान तुम नहीं, मेजबानी का रिश्ता थोड़ी देर का। फूस की आग की गरमी, साधू की सुहव्वत, मुल्मों की चमक, बाटल की तस्वीरे, स्ट्रिट का रंग—जैसे आये-गए होते हैं, वैसे ही ना-उम्मेदी आई-गई समझो ! समझो क्या, आई-गई है ही। तुम्हारा 'मैं' जब भूल से ना-उम्मेदी को अपना बैठता है, तभी तुम, तुम न रहकर ना-उम्मेदी बन जाते हो। तुम नाउम्मेदी नहीं। चोर चोरी का काम तो दस-पॉत्र मिनट, घण्टे-दो-घण्टे करता है, बाईस-तेईस घण्टे तो वह चोरी नहीं करता; पर रिश्ता जोड़ बैठता है उस

घरटे-दो-घरटे से । फिर वह साह कैसे बने ? तुम रहते हो खुश दिन-भर, उदास कभी-कभी; दोस्त सौ के, दुश्मन किसी-किसी के; निडर सौ दिन, डरते हो कभी-कभी; पर हाल तुम्हारा यह है कि तुम अपने को उदास, दुश्मन और डरपोक समझते हो । छोड़ो यह गलतखयाली ! तोड़ो यह मिथ्या विचारधारा ! तुम वह हो, जो तुम्हें ज्यादा देर रहते हो । उबलते पानी ने किसी को जलाकर अपने को आग नहीं कहा और आग ने सीता और खुदाबख्श^१ को न जलाकर अपने को पानी कहना नहीं शुरू कर दिया । फिर तुम ही उलटी चाल क्यों चलते हो ? निराशा का इलाज तुम्हारे अन्दर ही मौजूद है । गिरते-गिरते सम्हलने की काबलियत तुम में है । मानो तो, तुम-तुम हो, तुम्हारे सब गुणों पर तुम्हारा अधिकार है । तुम्हारी वेह तुम्हारी है, तुम हुकम दो तो वह सब तुम्हारा कहना मानेगे । आदमी सृष्टि का सब से बड़ा चमत्कृत प्राणी है । यह टिमाग की साफ स्लेट लेकर जनमता है; जो चाहे उस पर लिख सकता है । कबूतर के टिमाग की स्लेट पर तिनकों के घोसले की तस्वीर बनी है । वह वैसा घोसला बनाता है और बनाता रहेगा; पर आदमी तो अपनी स्लेट पर गद्दी, बंगला, महल, मन्दिर, मस्जिद, पुल, सुरंग जो चाहे बना ले । तुम आदमी हो—जो चाहो अपनी कोशिश से बन हो और जो चाहो बना सकते हो । फिर निराशा को अपना क्यों समझे हुए हो ? उससे तुम्हारा कोई रिश्ता नहीं, यह तुम क्यों भूल जाते हो ?

हिन्दुस्तान में पैदा होने के नाते तुम हिन्दुस्तानी और हिन्दुस्तान के मालिक, गलत या सही, यहाँ अंग्रेजों का राज होने के नाते, तुम अंग्रेजी राज-प्रजा । अब बताओ, तुम दोनों में से क्या हो ? प्रजा तुम थे नहीं और रहोगे भी नहीं । मालिक तुम थे ही, और रहोगे । अब तुम अपनी स्लेट पर अंग्रेजी राज की प्रजा ही लिख लो, तो कोई क्या करे ? निराशा ऐसा ही राज है जो तुम्हारे दिल पर आ जमा है । निराशा का राज रहेगा नहीं । तुम उस राज से इतने जकड़ गए हो कि हाथ-पोंव नहीं टिला

१. खुदाबख्श एक आदमी है जो आग पर चल लेता है ।

सकते—न सही, उसे अपना राज तो न कहो। निराशा को अपनी मानकर उसे गोद में बिठा, आशा के बैठने के लिए तुम जगह ही न छोड़ो—फिर वह क्यों आने लगी।

निराशा अगर बीमारी है और तुम उसके बीमार हो, तो क्या हाथ-पाँव चलाना छोड़ दोगे? बीमार उठते-बैठते हैं, बातें करते हैं, जल्दी-जल्दी न सही, धीरे-धीरे चलते हैं, तन्दुरुस्ती की चाह बनाये रखते हैं और उस हालत में काम भी करते रहते हैं। निराशा अगर अंधेरा है, तो चलना नहीं छोड़ा जा सकता? अन्धा होकर भी आदमी चलता रहता है। अंधेरी रात में, अंधेरे में हम सब भी टटोल-टटोल कर और अन्धाजे से चलते हैं, रोशनी की चाह और आदते कायम रखते हैं। अपने-आपको उजाले के जानवर ही मानते हैं। कभी अंधेरे के जानवर, उल्लू, चमगादड़ नहीं समझते। निराशा अगर नदी की बाढ़ है, तो याद रखो कि तुम्हारी देह भी छोटी-सी सही, पर मजबूत खूब है। बाढ़ से पानी कितना भी बढ़े, वह न डूबेगी।

अगर तुम बाढ़ में फँस गए हो तो निराशा को अपनाकर अपने अन्दर टाखिल न करो। बाढ़ तुम्हारा कुछ न बिगाड़ सकेगी। नाव बहाव के पानी से नहीं डूबा करती; वह तो अन्दर के पानी से ही डूबती है। पनडुब्बी बनकर जान-बूझकर निराशा का पानी भरके, अगर गोता लगाना चाहो तो हर्ज नहीं। वह तो उलटा आनन्द है, ऐबो से छिपकर ऐबो पर वार करना है।

निराशा से बचता कोई नहीं है। महापुरुषों से तो उसकी आये दिन टक्कर होती रहती है; पर वह इसे समझते हैं खेल की चीज। कोहरे की तरह यह उनको घेर लेती है, पर रोक नहीं सकती। कोहरे में कुछ दूर का दिखाई देता ही है, बहुत दूर का न सही, कुछ कदम चलने पर उतनी दूर का दिखाई देता ही रहता है, जितना कोहरा होते वह दिखाई देता था। कोहरे की तरह निराशा की पोल खुल जाती है और उनकी चाल में कोई झक नहीं आने पाता। सौ दोस्तों में घिरे रहने पर एक दुश्मन की थोथी

बकवास जैसे ध्यान देने योग्य नहीं होती, वैसे ही सौ आशाओं से घिरे रहने पर एक तरह की निराशा की परवाह न कर खुश रहो, और उससे अपना सम्बन्ध न जोड़ो !

नाउम्मेदी के वक्त दूसरो को दोष लगाने से काम न चलेगा । परिस्थितियों को कोसने से भी कुछ हाथ न आयगा । हाथ आयगा अपनी ठीक-ठीक सम्भाल रखने से । नाउम्मेदी का असली कारण तो तुममे है, औरों में नहीं । आफतों के घटाटोप में बड़े-बड़े धबरा उठते हैं । चोट लगने पर खून न निकले, यह हो ही नहीं सकता ; पर खून देखकर जीने की उम्मेद छोड़ बैठना, या उस खून निकलने को कुछ न समझना, अपने बस की बात है । जब यह कहने में नफा है कि खून निकलने से क्या होता है, अभी बन्द हो जायगा—तब यही क्यों न कहा जाय ? किसी के मर जाने या बकायक गुम हो जाने पर दुःख होता ही है । राम भी सीता के न मिलने पर विकल हो उठे थे । कार्य न बनने पर दिल दूटता ही है । दशरथ कैकयी को समझाने में असफल होकर दिल तोड़ ही बैठे थे । संसार के लालच और क्रूरता में फँसकर मन भर ही आता है । गर्भवती सीता जंगल में अकेली होने पर रो उठी थी । अपने ही जब विश्वासघात कर बैठें, तो बड़े-से-बड़े दिल से आह निकल जाती है । मीर जाफर के क्लाइब से मिल जाने पर शुजाउद्दौला के क्लेरो से आह निकल ही गई थी । बेजा वेइज्जती होने पर दिल ऐंठ ही जाता है । औरंगजेब के दरबार में नीची जगह पाने पर शिवाजी का दिल ऐंठ ही तो गया था । ये सब बातें स्वाभाविक हैं । पर याद रहे कि सब बातें निगशा का नाटक न खेल सकेंगी, धक्का खाकर गिरना-भर ठोक है, पड़े रहना ठीक नहीं; उठाने के लिए दूसरो का मुँह ताकना भी ठीक नहीं । हर जरा-सी देर में कुछ-का-कुछ हो सकता है । तब्लीक़ तुम पर अपना रंग चढ़ाने आयेगी; पर तुम उनको अपने रंग में रग कर ही नफे में रद्द सकोगे ।

लक्ष्मण की शक्ति लगी, राम का नक्ली दिल दहला । विभीषण ने राम का असली दिल जगाया । असली राम जगा । हनुमान की मंजीवनी

लाने भेजा, और राम युद्ध में लग गया। यही तुमको करना होगा। घटना और मनोभाव के जजों की बैच तुम्हारे लिए उस दम फैसला देने नहीं बैठती। उस समय फैसला करता है वस आत्मा, जो अनुभव का रस चखे होता है और जो सचमुच उसे चखकर उसका कुछ उपभोग कर लेता है। अब ना-उम्मेदी को कहाँ जगह है? निराशा नहीं है, तो हर दुर्घटना तुम्हारे लिए ऊपर चढ़ने का एक जीना है। मीठा दूध तक कड़वी तूँबी में कड़वा हो जाता है। कड़वे दूध का तो कहना ही क्या! दुखी हृदय को प्यार भी भार-सा जचता है, भार का तो कहना ही क्या? गन्ने का जीवन जीओ। कड़वी खाद को मिटास में बदल दो। नीम का जीवन जीकर दुनिया को दोष न दो। यह ठीक है कि जिसका कोई मर जाय, उसे दरो-दीवार रोते दिखाई देते हैं, पर यह और भी ज्यादा सच है कि वह रोकर दरो-दीवार को रुला देता है—और इस ज्यादा सच को उसे समझना चाहिए। यह उसके काम की बात है।

मान लो, रेल से तुम जा रहे हो। उस रेल की दूसरी रेल से टक्कर हो जाती है। तुम और तुम्हारे बीस और साथी मुसाफिर टूट-फूट में टब जाते हैं, सब पड़े-पड़े कराह रहे हैं, रो रहे हैं। उनसे कुछ करते नहीं बनता। तुम टब गए, यह तो घटना का धर्म है। औरों की तरह, तुमको भी निभाना ही होगा, पर आगे आत्मा-धर्म शुरू होता है, और वह है जोर लगा कर निकलना। निकलना और औरों को तसल्ली देना, यह कहकर कि “आता हूँ, अभी आता हूँ।” यह धर्म भी निभाओगे या नहीं? यदि हाँ, तो तुमने उस दुर्घटना से कुछ पाया ही, खोया नहीं। यदि नहीं, तो कराहा करो और चिल्लाया करो। याद रखो हिम्मत की दृढ़ नहीं होती। जितना चाही जाती है, उतनी आ मौजूद होती है। ज्यादा सुरिकल के मौको पर ज्यादा हिम्मत आ ही जाती है; पर अँट में उन्हीं के आती है जो हिम्मत के काम करते रहे हैं, जिन्हें उसका स्वाद लग गया है। आफत के समय दो तरह के आदमी आप पैदा हो जाते हैं: एक ज्ञाता और द्रष्टा; दूसरा साहसी और धर्मयोगी। ज्ञाता-द्रष्टा मील के पत्थर की तरह यह बता देंगे कि गाँव

किंभर है और कितनी दूर है। साहसी और कर्मयोगी अपने साथ तुमको ले चलेंगे और गाँव पहुँचा देंगे। जाता-द्रष्टाओं के पाले पड़े लोग अक्सर दुनिया का, समय का, साथियों का रोना रोया करते हैं। अपने अन्दर कभी नहीं भौंकते। साहसियों के पाले पड़े लोग, गिरते-पडते बड़े चले जाते हैं। तकलीफों को हँसते हँसते पार कर जाते हैं।

निराशा आदमी का अजब हाल कर देती है। वह उन तकलीफों के आगे ही घुटने नहीं टेकती जिनसे वह विलकुल अपरिचित है और जो उसके ऊपर अचानक आ धमकती है; वह तो जाने-पूछे, रोज के, आजमाये बुढ़ापे के सामने भी कायर बनकर नाक रगड़ने लगती है। बुढ़ापा और उदासीनता एक-माने लफ्ज बन गये हैं। आइये, बुढ़ापे का वक्त्र खोलकर दिखाएँ—

१—जिन्दगी के इंजन की भाप निकल गई है। वह काम की पटरी से गिर पडा है।

२—वह औजार जो काम करता था, अब मोथरा हो गया है। बेकार होने से हिम्मत के बँटे के बिना पडा-पडा जंग खा रहा है।

३—साहस का बैल बन्धु-बाधवों की मौत की गठरियों से टबा पड़ा दम तोड़ रहा है।

४—बीमारी देवी की औलाद इतनी बढ़ गई है कि चारपाई नहीं छाँडने देती।

५—अनुभव की दूरबीन ने दूर-दूर की खाइयों पास लाकर रख दी हैं। छोटे-छोटे कौंटों को भालों में बदल दिया है। मामूली चोटियों को हिमालय से ऊँचा कर दिया है।

६—कुछ अग्रगढ़ पत्थर के टुकड़े हैं, जो अपने-आप उछल-उछल कर पोंच से टकराते हैं। जैसे बेंटे का कहना न मानना, बहू की बेपरवाही, पोते-पोतियों का ठट्टा इत्यादि।

ये मारी चीजे बूढ़े ने बुढ़ापे के वक्त्र में आप भरी हैं। तुम किमी उम्र के क्यों न हों, भर कर देख लो, बूढ़े हो जाओगे।

जो बूढ़ा जवानी के खोये जाने की बात न जवान पर लाता है और न वैसी बात करना चाहता है, वह बूढ़ा ही नहीं हो पाता, जवान ही बना रहता है। कौन ऐसा बेवकूफ हो सकता है, जो वक्त (Time) में जगह (Space) की तरह पीछे जाना चाहे और इस शर्त पर कि उसके उस वक्त के सब अनुभव छीन लिये जायेंगे। यानी यह कि वह सोलह बरस का बना दिया जायगा, पर सोलह बरस जैसा बेवकूफ भी बना दिया जायगा। उम्र बड़ी है तो उसके साथ अनुभव भी बढे हैं। अनुभव को बुढ़ापा नहीं सताता, वह गुण है। गुण हमेशा जवान रहते हैं। बूढ़े की निगाह में जवानी एक जहर है, उतावलापन है, सो इलाज की हाजत रखती है और इलाज निवाय दुःख भरे बरसों के और क्या हो सकता है? यो, बहक और उतावलेपन की बीमारी से भरी-हुई जवानी बुढ़ापा कहलाने लगती है। बुढ़ापा, यानी पूरी तन्दुरुस्त जवानी। अनुभव-शून्य बूढ़ा तो अनगढ़ जवान को भी बच्चा ही जेचेगा। तुम यह ही क्यों सोचते हो कि तुम्हारे हाथ-पाँव दरस्त के पत्ते-डालियों की तरह पीले पडते जा रहे हैं, और यह कि उनको जल्दी ही चिता-ईधन बनना है, और खत्म हो जाना है! यो क्यों नहीं सोचते कि बुढ़ापा एक चमकता हुआ हीरा है, जिससे अनुभव की किरणें निकलकर जवानों की आँखों में चकाचौध डाल रही है? तुम दुनिया की जानकारी के भण्डार हो। तुम विज्ञान के खजाने हो। तुम साहित्य की बारीकियों के मन्दिर हो। तुम कला की नस-नस के वाकिफकार हो और सब से बढकर हो यह कि तुमने अपने को, अपनी आत्मा को, और यो परमात्मा को, पहचान लिया है। अनुभवी विश्वासवाला बुढ़ापा शान है। शान जवान रहती है।

अब बताओ, बुढ़ापा कहाँ, कब और कैसे उदासी का कारण हो सकता है? बुढ़ापे में ना-उम्मेदी को कहाँ जगह? जिस्म से अपने को क्यों नापते हो? लँगडा तेमूर जब दुनिया को हिला सकता है; एक आँख, एक टोंग और डेढ़ हाथ वाला राणा साँगा जब लडाई कर सकता है और एक आँख-वाला रणजीत सिपाही से राजा बन सकता है, तो तुम अपनी सूखी देह की

और क्यों निगाह डालते हो ? पचपन बरस में सरकारी नौकर, यानी हुकूमत की बगधी के घोड़े बेकार हो जाया करते हैं, पर देश-भक्त (वतन-परस्त) पचपन में उम्र शुरू करते हैं । मशीन के पुर्जे बेकार हो जाते हैं, वृद्ध की डालियों नहीं । वे डालियों गुद्दों में तबदील होकर डालियों निकालती हैं और जवानी को कायम रखती हैं । बुढ़ापे को पतभङ्ग का मौसम मत कहो; वह दिल की एक हालत का दूसरा नाम है । मौसम पर तुमको इख्तियार नहीं, दिल की हालत पर तुमको इख्तियार मिला है । वह अब भी गा सकता है ।

कुछ न सही, औरों को देखकर ही सबक लो । अगर यह भी न कर सको, तो औरों की खातिर ही उदास बनना छोड़ो । मनोभाव छूत की बीमारी की तरह औरों को लगते हैं । तुम्हारी उदासी घर-भर को उदास कर देगी । तुम अपना दिल तोड़कर न जाने कितनों का दिल तोड़ बैठोगे । तुमको क्या पता कि जिनका दिल तुम अनजाने अपनी उदासी से तोड़ रहे हो, वे कितने उत्साह के साथ दुनिया की कठिन लड़ाई लड़ रहे थे; और तुमको क्या पता कि वे कामयाबी के कितने पास पहुँच चुके थे । तुम लाखों रुपये देकर लोगों का इतना भला नहीं कर सकते, जितना खुश रहकर, ताली बजाकर लोगों की हिम्मत बढ़ाकर कर सकते हो । कम-से-कम मुर्दानी चेहरा बनाये-बनाये तो न फिरो । उदासी आने पर एकान्त कमरे में जाओ और शीशे में अपना चेहरा देखो । तुम्हारा चेहरा तुम्हें बलाता मालूम होगा । अब नकली हँसी हँसो, वह हँसी भी किसी ठेके तक तुम्हारे दिल को बदलने में मदद करेगी । 'खुशी' खुशी पैदा करती है और 'उदासी' उदासी ।

क्या तुम अक्सर 'नहीं देखते कि जिस दिन तुम घर में सुस्त दाखिल होते हो, उस दिन वच्चे तुमसे दूर रहने में ही अपना भला समझते हैं और तुम्हारी धर्मपत्नी चुप रहना ही अपना कर्तव्य समझती है ? असल में वे तुम्हारी उदासी में तुमसे दूर ही रहना चाहते हैं । होता यह है कि तुम्हारा मन 'मैं' की कोठरी में घुम बैठता है और दसीलिये तुम्हारी देह

भी किसी कोठरी में घुस बैठना चाहती है और यो, तुम सबसे ऊँचे बने फिरते हो। 'इसका इलाज किया जा रहा है', यह सुनने से काम न चलेगा। मन की सुस्ती देह तक लाने से और फिर कुटुम्ब तक फैलाने से बढ़ती ही है, घटती नहीं। वह तो घटती है देह के साफ इन्कार कर देने से, यानी उसको बाहर न आने देने से। मुट्ठी भीचकर और दौत किटकिटा कर गुस्सा बताया जाता है, वही पानी पीकर, हँसकर, गाकर, बदन ढीला छोड़कर उड़ाया जाता है। उदासी का इलाज उसको न अपनाना है। कम-से-कम देह को उसके रंग में रँगना तो हरगिज नही चाहिए।

उदासी एक बीमारी है, स्वार्थ उसका परहेज है और परमार्थ उसकी दवा। खिला चेहरा इस बात को बताता है कि बीमारी चली गई।

'नही हो सकने' की विचारधारा का नाम ही उदासी है। 'क्यों नही हो सकेगा? जरूर हो सकेगा'—ऐसी विचारधारा उदासी को—एक क्षण में खत्म कर देगी। असल में आफतों में से बहुत-सी ऐसी हुआ करती हैं, जो आती है और जल्दी चली जाती है। कुछ, कुछ देर करके जाती है, पर ऐसी तो लाखों में एक होती है, जो आकर नही जाती। 'न हो सकने' की विचारधारा सबको उस आखिरी क्रिस्म की आदत में बदल देती है। मामूली उलझन में फँसकर हम हिम्मत तोड़ देते हैं और अपनी बुद्धि खो बैठते हैं।

'हो सकने' की विचारधारा आफत में फँसने पर भी क्या-क्या कर सकती है, यह जानना होगा। 'बच्चा-सक्का' की जीवन कहानी पढ़ जाओ।—यह काबुल के होटल में पहचाना जाने पर खुद ही उठकर शोर मचाना शुरू कर देता है—“बच्चा-सक्का आ गया!”, “बच्चा-सक्का आ गया!” और बड़ी शांति के साथ सारे बाजार में शोर करता निकला जाता है—जिसका असर यह होता है कि शाह अमानुल्ला अपनी मोटर में बैठ काबुल से भाग खड़ा होता है और बच्चा-सक्का काबुल का बाटशाह बन जाता है। “हाय रे! फँस गया, फँस गया, अब क्या हो सकेगा?”—कहने से वह फँस ही गया होता और शायद फॉसी पर चढ़ा दिया गया होता,

पर हँसते रहने से वह आफतो से ही नहीं बचा, वहाँ वह पा गया जिसका वह इच्छुक था ।

उदासी की रचना में मनोभावों का सबसे ज्यादा हाथ रहता है । इसीलिए उसको कावू में लाना आसान नहीं । मन इच्छा-शक्ति से भी जल्दी कावू में नहीं आता । मन की चंचलता जगत्प्रसिद्ध है, इसलिए मनोभावों का इलाज मनोभावों द्वारा ही किया जा सकता है । तुम किसी हालत में उसके कुल का, देश का, धर्म का, भाषा का अभिमान जमाकर आशा फूँक सकते हो; बुद्धि को अपील करके नहीं ।

असल में निराशा से इच्छा-शक्ति को कोई टेस नहीं लगती; कभी-कभी तो वह और भी तीव्र हो जाती है । राह न मिलने पर जानवर तक में मुकाबिले की अपार शक्ति आजाती है और वह जान पर खेल जाता है ।

उदासी में उत्साह कम पड़ जाता है । अकेली इच्छा-शक्ति से अब क्या होना-जाना है । अब तो जरूरत पड़ती है अपनी जॉच की, घुरे को अच्छे में बदल डालने की, दुःख को सुख बना देने की । “विपत बराबर सुख नहीं जो थोड़े दिन होय !” के टोटे का न्याय समझकर ही उत्साह पैदा होगा । सुख तो गद्दा-बिछा पलंग है । उम पर नींद आयेगी ही । दुःख खटमलों वाली खाट है । वह भले ही पल-भर चैन न लेने दे; पर अधमरा न बनायेगी, जीता-जागता रक्खेगी, कुछ सीख ही देगी, अकल चमक उठेगी, आदमियत जाग जायगी, अमलियत का पता चल जायगा, अविद्या का पर्दा उठ जायगा, घमंड का नशा उतर जायगा, जीवन की तराजू में समतल आ जायगा और अमली कला का विकास होकर आनन्द पास खिच आयगा ।

दुःख में सुख देख पाने में, टोटे में लाभ निकाल लेने में ही जीवन की जीत है । जरा-जरा नी छेड़-छाड़ में छोटे-मोटे काम छोड़ बंटें, मामूली सुविधा न पाने में घबरा उठें, इससे लाभ क्या ? इससे बचने की सोचना दुनिया में न रहकर स्वर्ग में रहने की सोचना है ।

प्लेग ऐसी बीमारी है जिसका इलाज नहीं-जैगा है । जिससे कोई-कोई

जिन्दगी के दुनियादी उसूल

ही बचता है, पर क्या उस बीमारी में आस खो देने से कुछ नफा होगा ? आठ दिन की बजाय चार दिन में ही चल बसोगे। वे भी तो आखिर आदमी है जो हँसते-हँसते फाँसी पर चढ़ जाते हैं, खुश-खुश शहर का प्याला गट कर जाते हैं, उमंग के साथ आग में कूद पड़ते हैं। वे मरकर अपना भला न करते मालूम हो, पर दुनिया का भला तो कर ही जाते हैं।

गले में फाँसी का फन्दा डालकर बचने की आशा निराशा सही, पर हँसकर अमर होने की आशा तो पास खड़ी है। उसे क्यों नहीं अपनाते ? गुलाब का फूल पेड़ से अलग होकर मिट्टी में भी मिल सकता है और भट्टी पर चढ़कर इत्र भी छोड़ जा सकता है। तुम मिट्टी में क्यों मिलते हो, अपनी गन्ध तो छोड़ जाओ। पर यह उदास और निराश होने से न होगा, यह तो आशा-भरे हृदय से ही होगा और आशा तुम्हारे अन्दर मौजूद है। निराशा बुराई है, बुराई कोई अलग चीज नहीं होती। भलाई ही—गलत जगह, गलत समय, गलत पात्र के साथ, गलत तरीके के इस्तेमाल से—बुराई का नाम पाती है।

‘हो सकती है, और भलाई हो सकती है,’ यही वह आवाज वह खासियत है, जो हम में है और जिसके नज़दीक होने से निराशा की बीमारी पास नहीं फटक सकती।

महापुरुष भी उदासी और निराशा के बीमार हुए बिना नहीं रहते, पर वे उसको भगाने की कोशिश नहीं करते। उनके जीवन का एक उद्देश्य रहता है और निराशा की ओर से हटकर वे उसी में जुट जाते हैं। उदासी को वस में लाने की यह रीति बड़ी सुन्दर और काम की है, पर है यह उसी के लिए—जिसने अपनी जिन्दगी का कोई मकसद तैयार कर रखा है, जिसे कोई काम पूरा कर जाना है, जिसे दुनिया को उसी हालत में नहीं छोड़ जाना जैसी उसको मिली है। खुलासा यह कि कुछ काम ऐसे हैं जिनको करना ही पड़ता है—चाहे हम उदास हो, बीमार हो, आफत में हों, तूफान में फँसे हो या किसी हालत में हो। मों को हर हालत में बच्चे को वक्त पर पैदा करना ही होता है। मुर्दे को हर हालत में उठाकर कब्रिस्तान

या मरघट तक पहुँचाना ही होता है। ठीक इसी तरह जीवन की हर लगन को हर हालत में पूरा करना ही होता है। लगन होती ही इतनी जोरदार है कि वह लगनवाले को उदासी के पास से खींच लेती है, और अपने पास बुला लेती है। उदासी का रोता चेहरा जब उसके मालिक के सामने नहीं रहता और न उसकी याद ही दिल के किसी कोने में रह जाती है, तब वह भी सुस्त क्यों रहने लगा ? महापुरुषों की विचारशैली अपनी अनोखी होती है, पर ऐसी नहीं होती जिसकी तुम नकल न कर सको। तुम्हारे लिए वह इतनी ही आसान है, जितनी उनके लिए। वे सीधी-सीधी भाषा में यही सोचते हैं, पर सोचते हैं अन्तरात्मा से कि हम एक काम लेकर चले हैं। हमारे सुपुर्द एक कर्तव्य है, वह काम या कर्तव्य हमारा अण्डा है। अगर सेआ नहीं जायगा, तो सड जायगा। वह तो सेने से ही बन्ना देगा। यही कारण है कि वह जीने से कभी नहीं थकते। तुमको जीना कभी-कभी दूभर हो जाता है, इसलिए नहीं कि तुमको समय ने जर्जर कर रखा है या यह कि वह तुमको अच्छे अवसर नहीं देता, बल्कि इसलिए कि तुमने अपनी जिन्दगी का कोई मकसद ही तय नहीं किया।

आदमी-आदमी में फर्क न करने वाले और सबकी एक बराबर सेवा करने वाले बड़े आदमी कहलाते हैं। ऐसे बड़े आदमियों की जीवनियाँ हमको ऊपर की सच्चाई का सबक दे सकती हैं। वे एक काम छोट लेते हैं और उसी के पीछे पड़ जाते हैं। मुमीवत में पडकर उदासी का स्वागत करने वालों का उदासी क्या विगाडेगी ? बुद्ध और महावीर धन के लिहाज से राज छोडकर, धन की आशा को निराश कर चुके थे-और फौजों का पहरा छोड जंगल में बस, जीवन की आशा को आट ऑगू रुला चुके थे। बद्धिस्मती को दो धमकियाँ होती हैं—एक मार डालने की, दूसरी गरीब कर देने की। बुद्ध और महावीर न मरने से डरते थे और न गरीब होने में, फिर विस्मय उनका क्या विगाडती और क्या करती उदासी ? जीवन का ऐसा मेल बिटा लेना कि जिन्दगी हँसी-खुशी कट जाय, मुश्किल है और वो सगदनीय है, पर है जरूरी। जीवन का अमली आनन्द तो उन अनुभवों में है, जो मन-

मस्तक को आनन्द देते हुए सीधा आत्मा पर अपना असर छोड़ जाते हैं। 'मेरा सब धन लुट जाय, पर मैं यह न करूँगा। मेरी जान चली जाय, पर यह न करूँगा', कहकर तो मामूली-से-मामूली आदमी यह बता देता है कि आत्मा का आनन्द तो धन और जीवन का दाम लगाकर भी खरीदा जाना चाहिए। सूली पर चढ़ जाने वाले ईसा को, और ज़हर का प्याला पी जाने वाले सुकरात को कोई पागल नहीं कहता। न मालूम सिक्खो को तलवार, एक नाचीज़ लोहे का टुकड़ा, इतना क्यों भाया है कि सीस-बहादुर गुरु को भी तेग-बहादुर के नाम से पुकारते हैं।

गुरुद्वारे का नाम सीसगंज रखकर बेशक उन्होंने अक्लमन्दी का काम किया है। सिर काटाना पड़े या न पड़े, सिर कटाने की तैयारी तो अपने लक्ष्य तक पहुँचने के लिए होनी ही चाहिए। ऐसे लक्ष्य की ओर बढ़ने के लिए ही तुम उदासी की गठरी उतार कर फेंक सकोगे।

गुरु गोविन्दसिंह से उनके बच्चे छिन गये और हमेशा के लिए छिन गये। इससे क्या उनके काम में कोई दिलाई आई? बिलकुल नहीं। बहाना-दुर शाह के सामने जब उसके बेटे का सिर थाल में लाया गया, तो क्या उसको कोई घबराहट हुई?—कोई नहीं! बहादुरशाह ने माडले में रहकर भी हिन्दुस्तानियों को कुछ दिया और खुद भी कुछ पाया। उसके सामने जीवन का एक लक्ष्य था। उसने घबराहट को पास नहीं फटकने दिया। पर, मीरजाफर? उसने पाकर भी सब-कुछ खोया, उसका लक्ष्य था उसकी खुशी, न कि अन्दरूनी अनुभव। उदासी, निराशा उसे आमरण घेरे रही। गुरु गोविन्दसिंह और बहादुरशाह वे लोग थे, जो कहा करते थे, कुछ भी हो, जो करना है, वह तो करना ही है।

दार्शनिकों का कहना है कि आदमी पहले बहुत हठी, जंगली और कामी था। ये बातें आज भी उसमें हैं, पर दबी हुई हैं। आज के समाज के रिवाज उसके इन ऐबों को रोके हुए हैं और यों वह दुखी है। यह बात किसी हद तक सही मानी जा सकती है, पर यह और भी कहीं ज्यादा सत्य है कि आज के भले, समझदार, शिक्षित और सामाजिक प्राणी के निरन्तर

चले आने वाले ऐब आज के समाज के रिवाजो से इतने नही रोके जाते, जितने उसके नैतिक गुण, उसकी अन्तर-दृष्टि, उसकी अहिंसा-प्रियता, उसकी सचाई की टेक से यह गुण रोके और दबाये जाते है। भले आदमी आज की दुनिया से मेल ही नही बैठ पाते। युद्ध को उनकी अन्तरात्मा कैसे ठीक मान ले, समाज को बरवाद करने वाली आर्थिक-नीति का वे कैसे साथ दे ? काले-गोरे के भेद का वे कैसे समर्थन करे ? तानाशाही उनके गलेसे कैसे उतरे ? यह है आज की दुनिया ! कहो, कैसे मेल बैठे ? ऊपरी सुख उनको चाहिए, इसी सिद्धान्त पर डटना छोड़ अन्दर का सुख भी क्यों खो बैठे ? ऐसी हालत में निराशा तो आयेगी ही आयेगी और हटकर देगी नही। तो क्या कुत्ते की मौत मरे ? नही, वे समझौता नहीं करेगे। अन्दर का आनन्द नही खोयेगे। अन्तरात्मा की खातिर यह सहना ही चाहिए। अगर तुमने वेहयाई को तलाक दे दिया है तो तुम ऊपरी सुख, रंज-खुशी की परवाह न कर सुकरात की तरह जहर का प्याला खुश-खुश पीना ही पसन्द करोगे।

मामूली-से-मामूली आदमी के लिए भी उदासी का भगाना आसान होगा। शर्त केवल इतनी ही है, कि उसके जीवन का कोई उद्देश्य हो। उद्देश्य आवश्यक और सदा रहने वाली चीज है और उदासी कभी-कभी आने वाली।

किसको नमक-तेल-लडकी की दिक्कत रोज-रोज नहीं हुआ करती ? कमी ऐसी दिक्कत में फँस ही जाओगे। पर उसमें उदास होने की कहीं जरूरत है ? अगर पैसा भी पास नहीं है, तो भी घबराने वाला पैसा पैदा नहीं कर सकता। तुम अपने उसी काम में क्यों नहीं लग जाते जिसको तुमने अपने जीवन का लक्ष्य बना रखा है। लक्ष्य में लगने से तुम्हारी उदासी फौरन भाग जायगी और उदासी न रहने से तुम्हारी नौन, तेल, लकड़ी की कमी भी पूरी हो जायगी।

मन-मस्तिष्क, दोनों को स्वस्थ रखने वाला होता है—जीवन का उद्देश्य। आकतों और उदासी की ओर उसकी नजर ही नहीं जाती। वह अपने उद्देश्य की पूर्ति ही में इस छुरी तरह जुटना है कि आपत्त-मुमीन

की ओर से उसे बेपरवाह होना ही पडता है । अब रह गई मानसिक बीमारियों और मस्तिष्क की गडबडियों । वे भी दूर हो सकती है, यदि आदमी को अपनी रुचि के अनुकूल काम छोटने और करने को छोड दिया जाय । पागल कोई होता तभी है, जब उसको उसके मन के मुआफिक काम छोटने और करने नहीं दिया जाता । सब पागल एक-से नहीं होते और सब पागलो में अपनी कोई-न-कोई धुन रहती है । उस धुन को माता-पिता, राज या परिस्थितियों देह से पूरी नहीं होने देती । न सही, वह उन्हें मन से पूरी करना चाहता है और उदासी को पास नहीं फटकने देता । उदासी को उसने जरूर जीता और आनन्द को भी पाया, पर उस आनन्द मे समाज कोई भाग न बँटा सका ।

मन मे उत्पन्न हुई उदासी पर काफी लिखा जा चुका है । अब रह गई वह उदासी, जो देह की किसी गडबडी से पैदा होती है । कभी-कभी ऐसा होता है कि कोई ग्रन्थि अपना पूरा काम नहीं करती और उसकी वजह से उदासी हमको आ घेरती है । इस तरह की उदासी मन की कोरी कोशिश से कोई-कोई ही मिटा सकेगा । सब कोई वैसा करने मे सफल नहीं हो सकते, उनको हकीम की पनाह लेने मे कोई भिन्नक नहीं होनी चाहिए । उसके बताये नुसखे और परहेज से फायदा उठाना चाहिए । पागल की तरह इस किस्म के बीमार को ऊपर की पंक्तियों बिलकुल उपयोगी न पडेंगी, पर अच्छे हो जाने पर वे उसके बड़े काम की सावित होगी । ये फिर उसको इस प्रकार की बीमारी मे हरगिज न फँसने देगी । ग्रन्थियों के बिगड जाने मे अस्सी फी-सटी दैहिक कारण हो, पर बीस फी-सटी मानसिक कारण भी रहा करते हैं । जिसमे यह ताकत है कि वह उदासी को पचा सकता है, उसमे यह ताकत मौजूद रहती है कि वह उसको पास ही न फटकने दे । ताकत तो सर्वतोमुखी होती है । बिजली एक ताकत है, उससे क्या-क्या काम नहीं लिये जा सकते ? आत्मिक-बल भी एक बल है, जिससे अनगिनत काम लिये जा सकते हैं । यह तो याद रखना ही चाहिए कि उदासी को उसके ठीक आक्रमण के वाट हटाने मे बडा जोर लगाना पड़ेगा । काफी

जोर से वह ज़रूर हट जायगी । उसको उस वक्त न छोड़ना ही ठीक है ! कुछ देर के बाद वह बहुत ही निर्बल हो जाती है और बड़ी सुगमता से जीती और भगाई जा सकती है । यही वक्त बुद्धिमानो ने उसके भगाने का ठीक समझा है । उदासी पुरानी होने पर अपनी जड़ जमा बैठती है और सिर्फ जोर लगाने से ही नहीं जाती । बल्कि देर तक जोर लगाना पडता है । इतना जोर लाये कहीं से ? जिस ओर जितने जोर की उसको ज़रूरत है, वह तो उसमे है; पर यह कि वह उसमे है, इसका उसे पता नहीं होता । उसके लिए उसे एक गुरु या दोस्त की ज़रूरत होती है, जो समय पर उसको उसकी ताकत का ज्ञान कराता रहे ? वह ताकत क्या है, इसका जिक्र पहले हो चुका है । यहाँ उनको थोड़े मे दुहराये देते हैं :—

(१) कोरी हवा की साँस पर जीना जीना नहीं है । महान् विश्वासो की सास पर जीना जीना है ।

(२) दाल-रोटी पर जीना जीना नहीं है । अपनी सूरु से अन्तर्गत चीजो को दाल-रोटी मे तब्दील कर उन पर जीना जीना है ।

(३) खाने के लिए जीना और जीने के लिए जीना, जीना नहीं है । बड़े काम कर जाने के लिए जीना जीना है ।

(४) जीओ पर प्रकृति से प्रेम करने के लिए । प्राकृतिक सौंदर्य ओखों मे न रमे, तो क्या जीना ?

(५) जीओ, पर, कितानो को दोस्त बनाकर जीओ । बुजुर्गों के तजुर्बे के बिना भी क्या जीना ?

(६) जीओ, पर खिलाडी का जीवन जीओ । जीतकर जीतने का और हार कर जिताने वालो का आनन्द अनुभव करो ।

(७) जीओ, जी-चाहे जैसे जीओ, पर अन्तरात्मा को शर्मिन्दा न होने दो ।

(८) जीने का मञ्जा ही इस तरह जीने में है । फिर कहीं की उदासी और कैसा इलाव !



जवानो, अब ?

दुनियादारो का बड़ा हिस्सा इस चिन्ता में रहता है कि मरने के बाद क्या होगा ? सन्तो में केवल बुद्ध भगवान् ऐसे हुए, जिन्होंने यह सोचा कि “अब क्या करना है ?” उन्होंने आगे की चिन्ता में वक्त नहीं खोया । आज की रोटियों को वास्तव में कल के लिए केवल इसलिए उठा रखना कि खाना कहीं से आयेगा, बड़ी मूर्खता है । मोक्ष यदि है, तो उसी को मिलेगा जो आज की सोचता है । जो बीत चुका है उसके हम बने हुए हैं, उसके बारे में सोचना व्यर्थ है । ‘भावी’ हमारी भूत के अनुकूल होकर रहेगी । उसमें हम रहोबदल कर सकते हैं, मगर उसकी चिन्ता न कर उसमें बदलाव करने के लिए हमें वर्तमान पर ही ध्यान देना होगा । वर्तमान, और केवल वर्तमान ही हमारा है । उसी के जरिये हम अपने भविष्य को भूत से, अगर चाहे तो न मिलने देंगे; और उसी के जरिये हम अपने भूत, भविष्य को मिलने से रोके हुए हैं । आसमान और जमीन नहीं, यही भूत और भविष्य हमारी उस चक्की के पाट बने हुए हैं जो हमें पीस रही है, और हमें वह नहीं करने देती जो हम चाहते हैं । हाँ, वर्तमान पर हमारा पूरा अधिकार है । यह बात भूले, और समय की तेज नदी में बहे । वर्तमान ही इस समय की नदी में वह टेक है, जो तुम्हें रोके रख सकती है । नदी तिनको के लिए बहे, भूत भविष्य-पर निगाह रखने वालों के लिए बहे, तुम्हारे लिए तो वह स्थिर है—यदि तुम वर्तमान में

काम करने वाले हो । वह तुमको मजबूर होकर उधर रास्ता देगी, जिधर तुम जाना चाहोगे ।

आओ, अब उन तकलीफों को दूर करने की सोचें जो आज, और अभी, हमको सता रही हैं ।

वक्त की इस नदी में फूल भी बहे जा रहे हैं, और कोंटे भी । चाहिये हमें यही कि हम फूलों को पकड़ें, और कोंटों से दूर रहे । यह भले ही तारीफ की बात हो कि हम कोंटों में उलझ कर घबराये नहीं, पर उनमें हम फँसना नहीं चाहते—यह भी सच है । फिर अगर फँस ही गये हैं, तो निकलने का जोर तो लगाये, और निकल आने पर फिर उनकी ओर न जाकर फूलों की ओर ही दौड़ें और उन्हीं को पकड़ने में लगे ।

शेर जैसे फाड़-खाऊ जानवर से बचना हम सीख गये । हाथी जैसे बड़े जानवर को हमने दबा लिया । जराफ जैसे लम्बे जानवर को ला बँधा । हेल जैसे भारी-भरकम को समुद्र के किनारे ला पटकवा । जाड़े जैसी अनोखी बूला का इलाज सोच निकाला । गरमी जैसी जलानेवाली ऋतु को ठण्डा कर दिया । आँधी, वर्षा जैसी अचानक आ दवाने वाली आफतों पर विजय पा ली । विजली जैसी जबरदस्त दानवी से चक्की पिसवा दी । फिर क्या हम वर्तमान के दुखों को दूर नहीं कर सकते ? जरूर कर सकते हैं । बस, अब बहुत हो चुका, ज्यादा सहने की बात छोड़ दो । इस माया टगनी की ठगई में अब हमको नहीं आना चाहिये । या तो ठगई ही खत्म होगी, या माया ही ।

कोई है उपाय ? थके कमजोर कहेंगे, “कोई नहीं ।” दुःखवादी विना-बुलाये बोल उठेंगे, “दुनिया दुःख की खान है ।” धर्मात्मा बतलाएँगे, “पहले जन्म का फल है, भोगना ही पड़ेगा ।” वेदान्ती समझाएँगे, “यह सब माया का भ्रम है—सपना है, सपना !”

रुनमें से किसी की न टुनो । जिस साढ़े तीन हाथ के आदमी ने पृथ्वी, आग, पानी, हवा, आकाश—सब पर अपना रौब उभा दिया है, वह जीवन को सुखी बनाने की न सोच सके और सोचकर कुछ उपाय न निकाल सके—

जवानो, अब ?

ऐसा हो ही नहीं सकता । तुम सफ़ीने न रखते हुए भी पतले रह सकते हो, पंख वाले न होकर भी उड़ सकते हो, हिरनो जैसी पतली टाँगें न रखते हुए भी उनसे दौड़ में बाजी ले जा सकते हो, शेर-हाथी से कहीं कम ताकत रखकर भी उन्हें पछाड़ सकते हो, और अपने ही जैसे भाइयों के साथ हमप्याला और हमनिवाला नहीं हो सकते ! मिल-बैठ कर खा-पी नहीं सकते ! दो कुत्ते उस लाश के लिए लड़ मरते हैं जो बीस के लिए काफी होती है । इसके खिलाफ, दस आदमी पाँच रोटी बॉट कर खा लिया करते हैं, जो दो के लिए भी पूरी नहीं हुआ करती । तुम कुत्ते नहीं हो, तुम श्रेष्ठतम प्राणी कहलाते हो । अशरफुलमखलूक़ात हो ।

बैठोगे तो आज की रेल और मोटर में, उड़ोगे आज के हवाई-जहाज में, पहनोगे आज के फ़ैशन के कोट-पतलून, और नीति रहेगी तुम्हारी मनु, मूसा और ईसा के जमाने की ! और फिर सोचोगे सुखी रहने की ! गरमी की ऋतु में अपने मालिक के साथ अपनी सुसराल में एक बार गये जुलाहे के दामाद की तरह, जाड़ों में छिड़काव करा और बाहर-सो, अकड़ कर मर जाने के सिवाय हाथ कुछ न आयेगा ! शूद्र को वेद सुनते देख, कहीं उसके कान में गरम सीसा डाल बैठे, तो केवल लाल फ़ाटक ही न देखना पड़ेगा, गले में रस्सा डालकर भूलना भी पड़ेगा !

वेष-भूषा बदली, तो रिवाज भी बदल डालो । गुलामी से डरकर नहीं, रिवाजों के मालिक बनकर । किसी की नकल न करना, अक्ल से काम लेना, पर उस बेचारी से काम लेना जरूर !

यही नहीं, यानी हिन्दुस्तान में ही नहीं, सारी दुनिया की राजनीति बूढ़ी, जर्जर होकर दौंत निपोर रही है, और मनुष्य समाज की आवश्यकताएँ ? बे बनी बैठी है नवयौवना । उन दोनों का साथ कैसा ? बुढ़िया घर में रहेगी, उसे मार डालने की जरूरत नहीं, पर उसकी खातिर नई बहुएँ हावन-दस्ते में कुचल-कुचल कर पान नहीं खाएँगी । उनके दौंत है, वे बुढ़िया की नकल करेंगी, तो समाज में ठट्ठे का पात्र बनेगी ! राजशाही (इम्पीरियलिज़्म) बूढ़ी हो चुकी, नौकरशाही के गाल पिचक गये, सामन्त-

शाही दम तोड़ रही है। ये किताबी महल में रहे, अमली महल में इनका क्या काम ? कहीं-कहीं तो ये मर चुकी है। जहाँ ये मर चुकी है, तो जिनकी ये बेटियाँ रही है—वे भले ही मूढ़ बन्दर की तरह उनके खल्लडों को छाती से चिपकाये रहे हैं, तुम उनकी ओर आँख उठा कर न देखो, उनको काम में लाने की तो बात ही क्या !

रेल में बैठना छोड़ो, हवा में उड़ना छोड़ो, कोट-पतलून छोड़ो, चलो छकड़ा-गाड़ी में, पहनो मिरज़ई और बॉधो तहबन्द। यह नहीं, तो बनो हिन्दुस्तानी और पहाड़ पर चढ़कर पुकारो, “पहले हिन्दुस्तानी, पीछे हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, जैन, पारसी, आर्य-समाजी।”

तुम्हारे बाप-दादा जितने सुखी थे, कहो, तुम उतने सुखी हो ? उनके जमाने में न रेलगाड़ी थी, न तार। हाँ, हवाई जहाज था, पर पुराण की पोथियों में ! वे भूखो नहीं मरते थे। उनके समय में दूध की नदियाँ बहती थी, घी के तालाब थे ! आज भी उनको बनाई हुई इमारतें देखने अमरीका और इंगलिस्तान वाले हिन्दुस्तान आते हैं। उनके रिवाज उनके थे, उनके कपड़े उनकी सवारियों उनकी थीं। वे सुखी थे, तुम नहीं हो।

क्या तुम्हारे बच्चे तुम्हारे काबू में हैं ? क्या वे इतने ही मीधे-सादे हैं, जितने तुम अपने बचपन में थे ? जो तरह-तरह के टैक्स तुम पर लगे हुए हैं, क्या तुम उन्हें खुश-खुश देते हो ? क्या वे कर तुम्हारी समझ में तुम पर ठीक लगाये गए हैं ?

लोगों का कहना है—हम सभ्य बन गये हैं, हम पहले से ज्यादा समझदार हो गये हैं। मेरा कहना है—हम और बर्बर हो गये हैं और होते जाते हैं। लड़ना बर्बरता है और धर्म के लिए भी ? जी हाँ, धर्म के लिए भी। बुलबुल लड़ती है टाने के लिए, पेट भरना धर्म है, फिर उसे बर्बर क्या कहते हो ? कुत्ता लड़ता है पेट के लिए, भूख मिटाना धर्म है, फिर पुनिम वाले कुत्ते कहे जाने पर क्या चिड़ते हैं ? लाल लड़ता है मुनिया की खातिर, मादा के लिए लड़-मरना धर्म है, फिर उसे मूर्ख पक्षी क्यों कहते हो ? साँप-बिच्छू लड़ते हैं जगह की खातिर, जगह के लिए लड़ना धर्म है,

फिर उनको नीच कीट कह कर क्यों पुकारते हो ? देखा, धर्म के लिए लडना भी बर्बरता है । हमारे बड़े टफ़्तर, बड़ी-बड़ी कचहरियों, बड़े-बड़े महल बर्बरता कर टिटोरा पीटते रहेगे, जब तक एक भी आदमी हमारे लाखों-करोडो भीलो, संथालो, जूलूओ, एस्कीमो, बुशमैनो, लाल अमरीकनो, हब-शियो को बर्बर कहने वाला जिन्दा रहेगा ।

हमारे मखमल और मलमल के कपडे हमारी बर्बरता न छिपा सकेगे । बर्बरता तो ईमानदारी, सच्चाई और प्रेम के साबुन से ही धुल सकेगी ।

आज अगर कोई किसी मतलब के लिए अपना सिर काटकर देवी के आगे चढा दे, तो तुम उसे क्या कहोगे ? पागल न ! और अगर तुम अपना ज़रा-ज़रा मास रोज़ काटकर चढाने लगो, तो तुम क्या समझे जाओगे ? महापागल ! पर ऐसा तो तुम रोज़ कर रहे हो । कैसे ? तुम्हारी बेटे की शादी थी, तुम्हारे पास नहीं थी एक फूटी कौडी । तुमने लिये हजार रुपये कर्ज़ । किस को खुश करने के लिए ? 'कोई क्या कहेगा' नामवाली देवी को खुश करने के लिए । और अब ? सूट भी अढा नहीं हो रहा । तिल-तिल खून कम होकर काया छीज रही है । यह मास काट-काटकर चढाना नहीं तो क्या है ? कुछ पता है, हिन्दुस्तानियो की औसत उम्र है तीस बरस । 'कोई क्या कहेगा' की देवी हडप कर गई नब्बे बरस ! नहीं तो थी एक सौ बीस !

अब ?—अब अगर खुश रहना है तो दो सिद्धान्तो को अपनाइये । उनको पूरा समझ लीजिए । फिर उन्ही की सुनिए और किसी की नहीं ।
१—जीवन की जान क्या ? २—समाज में रहने का गुर क्या ?

जीवन की जान है—अपनी अन्तरात्मा के विरुद्ध किसी की नमानो । जो जमीर कहे वही करो । समय न हो, ठहरे रहो ! यही प्रमाण है कि तुम हो । अन्तरात्मा के विरुद्ध किया कि दुखो ने तुम्हे घेरा । तुम अन्तरात्मा की पुकार के अनुसार कर, शायद एक-दो का और वह भी थोड़ी देर के लिए, दिल दुखाओगे, पर उसके विरुद्ध कर तो तुम अनेको का बरसो तक बदिल दुखाते रहोगे ।

समाज में रहने का गुर है—अहङ्कार को कुचल डालो । स्वाभिमान, मान न बन बैठे । विजय अन्तरात्मा का कहना मानने में है । आत्मा अनन्त शक्तिशाली है, मन नहीं । मन का कहना माने वह मानी, आत्मा का कहना माने वह आत्माभिमानी—यानी ज्ञानी ।

जो मन का दास है, वह मनुष्य का दास है, मनुष्यो का दास है । जो आत्मदास है, वह परमात्मा का दास है, यानी आजाद है । आत्मा का दास होना रूढ़ियों का दास होना नहीं है । आत्मा का दास होना अपने को पाना है । यह विज्ञान है । सुखी होने के लिए हमें यही जानना होगा कि हम क्या हैं ? अपने में कैसे रह सकते हैं ? आत्मा तक पहुँचने के लिए नग्न सत्य ही सहायक ही सकता है, रोज़मर्रा का मोटा सत्य नहीं ।

आइये, सिद्धान्त को छोड़कर व्यवहार में प्रवेश करें । मान लो, तुम्हें विवाह करना है । पुराना तरीका यह है कि माँ बाप जो तुम्हारे गले बाँध दें, उसे उम्र भर निभाओ । मान लो, तुम्हें रोज़गार करना है । उसका सीधा रास्ता यह कि जो तुम्हारे बाप-दादा करते आये हैं, तुम भी वही करो । अगर ये तरीके तुम्हें पसन्द हैं, तो तुम 'लोग क्या कहेंगे' नामवाली देवी के दास हो, मन के दास हो । इस पसन्द में तुम्हारी अन्तरात्मा कहीं है ? तुम कहीं हो ?

'जीवन की जान' वाला सिद्धान्त खत्म ! अब, आजीवन जीवन का भला कहीं ?

यदि आत्मा है, तो आत्मा है—और मैं भी हूँ । यह अहङ्कार नहीं है, सत्य है । यही जीवन की जान है ।

मैं हूँ, मेरी जाति है, मेरा सप्ट है, मेरा मानव-समाज है । मैं हर हैसियत से वही कहूँगा, जो मेरा आत्मा कहता है ।

कहिये, आप रूढ़ियों के दास रहकर जीना चाहते हैं या आत्माभिमानि रहकर ?



उदासी को यों भगाओ

देह की तरह मन भी बीमार पड़ता है। देह की बीमारियों का असर देह पर साफ दिखाई देता है। मन की बीमारी का असर भी देह पर ही पड़ता है। भूल से हम मन की बीमारी को बीमारी समझ बैठते हैं। दवा-दारू करने लगते हैं और मर्ज को ठीक करने की जगह और बढ़ा लेते हैं। उदासी मन की बीमारी है। यह दवाओं से नहीं जाती। मन के डाक्टर मन को मन से अच्छा करते हैं। वे सुभाव देते हैं। सुभाव मन की अकसीर दवा है। उदासी मन की बीमारी तो है, पर दमे की तरह बीमारी मान ली गई है। दमा-जैसे बीमारी नहीं, किसी बीमारी का चिह्न है; उसी प्रकार उदासी बीमारी नहीं, किसी बीमारी की निशानी है। जिस बीमारी का यह चिह्न है, उसी की दवा करने से उदासी भाग जायगी।

उदासी है बहुत बुरी चीज। यह बनाऊ नहीं, ढाऊ है। उदास दिवालिया बन बैठता है। जीवन के कर्ज चुकाने से इन्कार कर देता है। जो वह खाता है, उसका कुछ बदला जमीन को तो देता है और वह शायद मजबूरी देता है; पर और किसी को कुछ नहीं देता। न दे, न सही; पर बुरी बात तो यह है कि वह अपनी बीमारी फैलाकर ढाने के काम में लग जाता है। इस ढाने के काम में नीति-शास्त्र उसका मददगार बन बैठता है। नीति-शास्त्र जब तक भावों के ढाने को जायज बनाता रहेगा, तब तक उदास उदासी को अपनाते रहेंगे और सोसाइटी के निजाम के महल को

टाते रहेंगे । उसके व्यवस्थापक किले के फाटक पर डटे रहेंगे और मौका पा खिडकी की राह घुस कुछ-न-कुछ गड़बड़ करते रहेंगे ।

नीति-शास्त्र का जन्म हुआ था जंगली स्वच्छन्दता को सिखा-समझा-कर शहरी स्वाधीनता बना देने के लिए । पर वह लग गया शहरी स्वाधीनता के भी हाथ-पॉव बाँधने । स्वाधीनता इस बन्धन को बरदाश्त न कर सकी और उसने जन की उदासीनता । उदासीनता का बाप बना पाप, गुनाह । पाप भूल या भूले छिपाने का एक नाम है । बालक भूले छिपाना नहीं जानता, इसलिए उदास नहीं होता । जो उदासी मन की बीमारी न होकर मन की बीमारी भूल-दाव (यानी भूलो, गलतियों को छिपाकर बैठ जाना) का चिह्न है ।

कुदरती कानूनो के खिलाफ कुछ करना गलती कहलाता है । गलती का दूसरा नाम है भूल । भूल छिपाना पाप है । रिवाज ने मन को पाप से नफ़रत करना सिखा दिया है । मन का भूल करना विभाव है । यही बात यों भी कही जा सकती है कि मन का कुदरत के कानूनो के अनुसार काम करना स्वभाव है और नीति-शास्त्र कुदरत के कानूनो के खिलाफ़ रोक लगाता है । अब मन जो भी काम करता है, वह या तो कुदरत के कानूनो के खिलाफ़ पडता है या नीति-शास्त्र के । इसलिए मन दीट बन-कर नीति-शास्त्र को ही ठुकरा देता है और कुदरत के कानूनों पर चलने लगता है । समाज का बहुत बड़ा हिस्सा, देखने में, नीति-शास्त्र पर चलता मालूम होता है, इसलिए गलती करने वाले को मन की गलतियों छिपाकर उदास बनना पडता है ।

आइए, इसे अच्छी तरह समझ ले । 'भूल लगने पर उन चीज़ों को खाना जो हमारे जिस्म की बनावट के लिहाज से जरूरी हैं' कुदरत का कानून है । नीति-शास्त्र कहता है, भूले मर जाओ, चोरी न करो । बिना टी हर्ड चीज़ लेना चोरी करना है । अब एक आदमी भूल से मर रहा है । मॉर्गने पर उसे कुछ मिलता नहीं । तब उसके पास एक ही उपाय है । नीति-शास्त्र को टोकर मारे और कुदरत के कानून को अपनाये । वैसे वह

करता भी है, पर नीति-शास्त्र को ठुकराना समाज बरदाश्त नहीं करता। इसलिए वह ठुकराता भी है और ठुकराने को छिपाता भी है। नतीजा होता है—उदासी। उदासी पुत्री है उस स्वाधीनता की जिन्होंने तंग आकर पाप के साथ शादी कर ली थी। इसी उदासी को अपनाकर उदास पक्का विनाशक बन जाता है—

उदासी उदास को दुखी, भारी और हठी बना देती है। उदास समाज के काम का नहीं रह जाता। साथ मिलकर काम करना उसको बुरा लगता है। अब यह पाप नहीं तो और क्या है? खुदी उससे दूर नहीं हुई। अहंकार ज्यो-का-त्यो बना हुआ है। तसल्ली उसकी वह कर नहीं पाता। तसल्ली के सारे रास्ते उसने बन्द कर लिए हैं। तब या तो वह अपघात करे या बेहया बनकर पाप की जिन्दगी बिताये। दोनों ही काम सोसाइटी की नज़र में ऊँचे नहीं, नीचे हैं। सोसाइटी के जहाज की पेदी में सुराख करने वाले हैं।

जवानो! उदासी की जड़ तुमने जान ली। उसको काट फेंकना बड़ा काम नहीं है। मामूली हिम्मत से वह काम हो सकता है। अपनी भूलों को खुले दिल से स्वीकार कर लेने से उदासी की जड़ कट सकती है। एक बार हिम्मत करो तो सभी बदल जायगा। चमत्कार हो जायगा।

भूलों में दबे-दबे अनाज की तरह किल्ले फूट निकलते हैं। यानी भूलों को छिपाने से खूब भूलें होती हैं—मन की कुढन बढ़ती जाती है, जिन्दगी आफत हो जाती है। मरते तो सब हैं, पर उदास क्रुते की मौत मरता है।

सफलता में विश्वास न रह जाने का नम है—उदमषी। उदास को असफलता का हमेशा डर बना रहता है। नाकामयाबी का डर नाकामयाबी को बुलाता है। उदास, उदासी को मानता दुःख ही है। दुःख को दुःख मानने में तुम इतने टोटे में न रहोगे, जितने यह मानने में कि दुःख तुमको पाप या भूल की सजा की शकल में मिला है। ऐसा मानने से तुम हिम्मत से हाथ धो बैठोगे। ताकत तुमको जवाब दे जायगी।

मनुष्य भूलों का पुतला है। कहते हैं, देवता भूल नहीं करते। फ़ारिस्तों

से गलतियाँ नहीं होती । नहीं होती होगी । हमने फ़रिश्ते देवता नहीं देखे । तुम अपने को अगर आदमी मानते हो, तो तुमसे भूले होगी । भूलो के जब हम बने हुए ही है, तब भूल करने से शरमाएँगे क्यों ? यह याद रखो कि अगर तुमने भूल को शर्म का काम समझा, तो तुम भूल-सुधार के काम में कभी कामयाब न होगे । हाँ, जो अपने को देवता मान बैठे है, वे भूल करने को शर्म का काम समझे तो समझते रहे ।

जवानो ! तुम अपने-आपको देवता मान बैठने की भूल न करना । तुमने अपने को देवता माना और भूले होना बन्द हुई । भूलो के तो तुम बने ही हो, वे तो बन्द होगी नहीं, होगा यह कि या तो तुम खुद ही अपनी भूलो को ठीक समझने लगोगे, या तुम्हारे साथी तुम्हारी भूलो को ईश्वर की सचाई का नाम दे डालेंगे । तुम्हारी भूल से चवाई कंकरी का नतीजा यह होगा कि तुम्हारे साथी ईंट चवाने लगेंगे और अगर उन्हें किसी तरह यह जेंचने ही लगा कि ईंटे नुकसान करती हैं, तो तुम्हारे जन्म के दिन तो खाये बिना फिर भी न मानेंगे ।

हम भूल करने वालों के हाथ पड़ गए हैं । भूल से विलकुल खाली भगवान्, खुदा के वेद, करान । भगवान्, खुदा ये देकर कहाँ चले गये, पता नहीं; पर जिम्मेदारी पड़ी हम भूलो से भरे आदमियों के सिर कि हम यह साबित करें कि उनमें कोई भूल नहीं है । हम भूलें करने में भूलें करते हैं और सिर फोड़ते हैं ।

जवानो ! अपने-आपको देवता न मान, आदमी मान, भूलें कर, भूलो को स्वीकार कर, हलके बने, आगे बढ़ते चलो । भूल न करने का काम खुदा के भुँद-चढ़ो के लिए छोड़ दो, देवताओं के लिए छोड़ दो । बड़-पपन भूलें न करने में नहीं है, भूलें कर उन्हें स्वीकार करने में है, उन पर अधिकार करने में है । भूलें मनु में पड़ी-पड़ी नरक तैयार कर लेती है । नरक में तेल के खौलते कड़ाह में आदमियों को जलाने की बात कल्पना की गयी हो सकती है, पर उदासी के गरम कड़ाह में तो तुम रोज तले जाते हो । उदासी से बचने का जब सहज उपाय तुम्हारे सामने रख दिया गया तब

तुम अपने-आपको तले जाने की तकलीफ से बचा सकते हो। भूलें मन में चुभती रहती है, कोंटे की तरह चुभती रहती हैं। कोंटा निकल जाने पर चुभन की पीडा जाती रहती है। ठीक इसी तरह भूलों को कह डालने पर वे चुभना बन्द कर देती है। वे वहाँ रह ही नहीं जाती। कह डालने पर भूले, भूले नहीं रहती। वे मन से हट जाती है और चुभन नहीं रह जाती। इतना ही नहीं, वे अपनी जगह एक मीठा अनुभव छोड़ जाती हैं, जो हमेशा याद आता है। भूलों को भूल मानना तरक्की का बीना चढ़ना है। उदासी से ऊँचे उठते जाना है, दूर होते जाना है।

लोग तुम्हारी भूले तुमसे सुनकर तुम्हारी इज्जत करने लगेंगे। भूलें हमेशा छिपी तो रहेगी नहीं। एक-न-एक दिन किसी-न-किसी तरह वे औरो तक पहुँचेंगी ही। तुम्हारी भूले लोग और किसी तरह जानकर तुमको नीचे समझने लगेंगे और वो तुम्हारी उदासी तुमको और भी कुतरने लगेगी। उदासी मिटाने और रूंगे में इज्जत पाने का मौका हाथ से क्यों खोते हो ?

भूले तुम पर अपना वार करेगी, तुमको दुखी बनाएँगी। तुम ही पहल क्यों नहीं करते ? काम के वक्त बात करने की चूक करना नादानि है। दुनिया का भेद काम है। मन्त्रो का मन्त्र काम है। भाग्य के उठाये उठना भी कोई उठना है ? किस्मत के झुकाये झुक जाना भी कोई आदमियत है ? दुनिया की मुठभेड की रस्सी पर समतोल रखकर ही चल सकोगे।

भूलों के बीज के लिए सबसे उपजाऊ धरती है त्याग की। तुम अपने को त्यागी बनाकर जब सेवा शुरू करते हो तब तुमसे, तुम्हारे देवता न होने के कारण, भूले होती हैं और तुम अपनी इस कमी से शर्म के मारे जमीन में गड जाते हो। नतीजा यह होता है कि विस्तर पर लेटे नहीं कि चिन्ताओं के चक्र ने तुम्हें घेरा। तुम उस चक्र में ऐसे फँसते हो कि किसी एक बात को भी ठीक-ठीक नहीं समझ पाते। भूले तुम्हें सबक दे सकती हैं, पर जेने के लिए तुम्हारे पास वक्त ही नहीं रह जाता। तुम अपने को नीच और तुच्छ समझने लगते हो। यह तुच्छता की जूँ तुमको काटकर अपना-जैसा

बना लेती है। तुम भी फिर जूँ बनकर रूढ़ि की गुडड़ी में सुरसुरा-सुरसुर कर समाज के जिस्म में काटकर खुजली उठाते रहते हो। यह तुच्छता तुँ औरों में भी फैलाना शुरू कर देते हो। अगर यह तुच्छता कोशिश क दूर न की जाय तो मरने तक साथ देती है। अपने किसी काम से या बात से किसी के दिल में यह खयाल बिठा देना कि वह अपने को पापी, गुनह गार समझने लगे, सबसे बड़ा पाप है। इस बात का बड़ा ध्यान रखना और ऐसी भूल न कर बैठना। अगर हो भी जाय तो फौरन दूर करने की कोशिश करना और उसको ठीक किए बिना चैन न लेना। वह भूल भूलों में सबसे बड़ी भूल है। नशा करना इतना बुरा नहीं जितना नशेबाज तैयार करने का काम शुरू कर देना। भूल करना बुरा है, पर भूल करने वाले तैयार करने का कारखाना खोल देना तो और भी बुरा है।

भूले रोज होती है। कुछ भूले इतनी मामूली बन गई है कि उनके बारे में भूल होने का ज्ञान भी हमसे बहुतो को नहीं रह गया। भूले हैं भी बहुत किस्मों की। फिर भी बारह किस्मों में वे बँटी जा सकती हैं। सुभीते के लिए हम वैसा किये देते हैं—

१. गुस्से की, २. घमण्ड की, ३. लालच की, ४. फरेब की, ५. हँसी की, ६. रुचि की, ७. अरुचि की, ८. रंज की, ९. डर की, १०. घृणा की, ११. मरदानी, १२. जनानी।

जोर-जोर से इसलिए बोलना कि लोग आपकी बात को ठीक मान लें; अपनी कहे जाना, औरों की न सुनना; सस्ती चीजें खरीदना और पछताना; बात करते-करते रुक जाना; आदत हो जाने से बे-जगह हँस-बैठना; अपनी पसन्द पर जोर दे बैठना; अपनी ना-पसन्द को बहुत खींचना; शोक में कोई प्रतिज्ञा कर बैठना; डर से बीमार पड जाना; नफरत से बेताब हो बैठना; औरतों से घृणा; मरदों को चिटाना इत्यादि।

जरा ध्यान देने पर हर आदमी एक लम्बी-चौड़ी फेहरिस्त अपने लिए तैयार कर सकता है। पर फेहरिस्त बनने से काम न होगा। काम तो उन पर विचार करने से और फिर उनका सुधार करने से होगा। उदासी-बेमारी

दूर होगी। सुधार की राह में एक पहाड़ आएगा। उसे लॉथ जाने पर आपका रास्ता साफ और सीधा हो जायगा। वह पहाड़ है हमारी यह आदत कि हम भूलकर अहंकारवश उस पर डट जाते हैं और कह बैठते हैं कि हमने जो किया, ठीक किया। अहंकार का सबसे पहला काम होता ही यह है कि वह अपनी भूल दूसरो के सिर थोपे। आम-तौर से अहंकार उसके जगाये ही जागता है। ठसक को ठेस लगी और वह जागा। इस चुटीले सॉप को ज़रा टनाइये और फिर देखिए कि सारा सीन बदल जाता है। दुश्मन दोस्त बन जाते हैं। जो आपसे बचकर भागते थे, के खिंचकर पास आ जाते हैं। जो बटनाम करते थे, वे गुणगान करने लग जाते हैं।

मान का भूत उतरा और भूल की वजह समझ में आई। वजह समझ में आई और ठीक क्या था, इसका भेद खुला। ठीक मन को घटनाएँ ठीक-ठीक ही बताती हैं। गुस्से की गैरहाजिरी में डर को डरा-धमकाकर मन से निकाल बाहर कीजिए और फिर देखिए भूले भूलकर भी वहाँ कदम नहीं रखती और उदासी उदास होकर अब उठेगी और उठकर चल देगी।

उदासी को मत कोसो। उससे मत खीजो। कोसना, खीजना उसके टाना-पानी है। चोट खाया हुआ अभिमान उसका पलंग है। उसे खींच लो। वह चल देगी।



काम की काहिली

जैनो के एक फ़िरके के लोग अपने भगवान् की मूर्ति मन्दिर में नंगी रखते हैं, पर वह भी इतनी नंगी नहीं होती जितने सनातनी नागे साधू । मूर्ति नग्न तो है ही, पर हाथ-पर-हाथ धरे हुए भी है । हाथ-पर-हाथ धरे कर बैठना एक मुहावरा है । उसका मतलब होता है निटल्ला बैठना, काहिल-वजूद बनना । बुद्ध भगवान् की भी कुछ मूर्तियाँ हाथ-पर-हाथ धरे मिलती हैं; पर महावीर और बुद्ध-जैसी, अपने जीते जी, भारत की काया पलट करने वाली हस्तियों इतिहास में कम ही मिलती हैं, इसलिए इनकी काहिली थोड़ी ही उड़ा देने वाली चीज़ नहीं हो सकती । इसका मुताला करना होगा । समझना होगा । महावीर, बुद्ध भरी जवानी में सेवा के मैदान में कूदे थे, इस नाते भी जवानों को उनकी एक-एक बात अच्छी तरह समझनी चाहिए । ये दोनों राजकुमार थे । काहिली की कुरसी, राजगद्दी, इनको काट खाने को टौड़ती मालूम होती थी । ये उसे छोड़कर भागे और खूब भागे । काहिल कहीं भागने-जैसा भी काम किया करता है ? आलसियों की कहानियों किसने नहीं पढी-सुनीं ? वे अपने जलते कपड़ों को बुझाने के लिए भी दूसरों को पुकारा करते हैं । यह बात अलंकार की बोली में नहीं, हिसाब की बोली में कही जा रही है । आलमी सचमुच ऐसे ही होते हैं । ये राजकुमार भागे जरूर, पर पीठ दिखाकर नहीं, छाती खोलकर नटि दुश्मन की ओर, उससे लोहा लेने के लिए, गरमियों में शिमला-शैल

की ओर नहीं, अफ्रीका के सहारा की तरफ; जाडो मे भूमध्य रेखा की ओर नहीं, ध्रुव देश की तरफ, मूसलाधार मे महल की तरफ नहीं, खुले जंगल और मैदान की तरफ। वे एअर-कण्डीशण्ड (ठडी) गाडी से न भागकर टॉगो की सवारी को ही ठीक समझते थे। उनकी दो टॉगो उनको हर जगह ले जा सकती थी, इसीलिए उनको वे पसन्द थी। वे हाथ-पर-हाथ धर सकते है, पर आलसी या काहिल-वजूद नहीं बन सकते। उनकी गोदी मे उनका दायाँ और बायाँ हाथ न मिलता था, किन्तु विजली का गरम तार नरम तार से मिलता था और ज्ञान की चिनगारी पैदा कर 'अज्ञान अंधेरे' को खा जाता था। अलकार की बोली हो ली। आइए, अब मतलब की बात सुनिये।

आज का युग मशीन-युग है। मशीन की जान है पहिया। अगर विजली-युग है तो उसका भी बाप पहिया ही है। पहिये ने कब जन्म लिया, किसी को पता नहीं। यो मशीन-युग बहुत पुराना है। हनुमानजी ने समुद्र तैरकर पार किया था, पर आज तो काशी की गंगा मोटर-बोट से पार की जाती है। नही-नही, नागपुर के शुक्रवारी तालाब मे भी मोटर बोट रहती है। मतलब यह कि हम हाथ से काम नहीं लेते, औजारों से काम लेते है। साइकिल से जितने तेज चल सकते है, उतने पैर से नहीं। रेल, तार, हवाई जहाज बनाने वालो की कहानियों या जिन्दगियों उतने ही शौक से पढ़ी-सुनी जाती है, जितनी राम-लक्ष्मण या भीम अर्जुन की कथाएँ। रेल के इंजन को सोच निकालने वाला लडका अकसर अपनी माँ से फटकार खाया करता था। उसकी माँ कहा करती थी, “क्या हाथ-पर-हाथ धरे बैठा है ? पकती हॉडी देख रहा है, कुछ करता क्यों नहीं ?” यह सुनकर वह चौंक पडा करता था और उसका काम रुक जाता था। वह सुस्त नहीं तो बेकार जरूर हो जाता था। हम आजकल हाथ को आराम देने के लिए हाथ के औजार बनाने की नहीं सोचते। कभी सोचते रहे हो, यह दूसरी बात है। आजकल तो हम औजार इसलिए गढ़ते है कि उसी हाथ से ज्यादा काम कर सके। नये-नये औजार सोच निकालना

मुश्किल काम है, इसीलिए तारीफ के काविल है । दिमाग के लिए औजार सोच निकालना कहीं ज्यादा मुश्किल काम है और कितना तारीफ का काम है, उसका अन्दाजा नहीं लगाया जा सकता । दिमागी औजार तैयार करने वाले मूसा, ईसा, मुहम्मद, कार्ल मार्क्स, निरेशे वगैरह हुए । हिन्दुस्तान तो इस तरह के औजार निकालने वालों का केन्द्र ही रहा है । महावीर, बुद्ध, शंकर, राममोहन राय, दयानन्द, ये सब बैठे-बैठे दिमागी औजार ही गढ़ा करते थे । दिमागी औजार गढ़ने वाला देखने में काहिल-सा जँचता है, पर वैसी काहिली तो किस्मत से ही किसी को नसीब होती है । हाँ, वह सीखी जा सकती है और हर जवान को सीखनी चाहिए ।

वेशक, यह जरा साफ-साफ समझना होगा कि दिमागी औजार क्या हैं ? कैसे गढ़े जाते हैं ? और उन्हें कौन गढ़ सकता है ?

दिमागी मशीन का नाम है—संगठन, तनजीम (Organization) । इसके पुर्जे हैं वे लोग, जिनके सिर कुछ जिम्मेदारियों हैं ।

इन औजारों या पुरजों के गढ़ने में खुदगर्जी छौडनी पड़ती है, साथियों का एतवार करना पड़ता है और अपना एतवार जमाना होता है । हुकूमत भी की जाती है, पर हुकूमत का घमंड सर से निकाल कर । आलिंगी, जानियों की पहचान सीखनी होती है, उनको सिर-आँखों पर बिठाना देना है । उल्लू पर सवार रहने वाली लक्ष्मी को काबू में रखना होता है । याद रहे, सिंहवाहिनी शक्ति को उत्कृष्टवाहिनी का पहरा देने में खास मजा आता है, इसलिए उसको तो इस काम में जुटाये ही रखना होगा, नहीं तो वह ऊधम मचाकर तुम्हें चैन नहीं लेने देगी ।

इन औजारों को गढ़ वही सकता है जो काम की काहिली का माहिर है । निकम्मी काहिली बुद्धि की तलवार को जंग लगाती है और काम की काहिली उन पर शान चढ़ाती है । काम की काहिली से हमारा मतलब है अपने साथियों या मातहतों के काम में कम-से-कम दखल देना । कोई नई मशीन पुरानी मशीन की जगह तभी लेती है जब वह कम-से-कम आठमी का दखल चाहे, इयादा-से-इयादा काम करे, श्रच्छा काम करे, आगामी से

काबू में आ सके। कम-से-कम दखल देने से हमारा मतलब यही है कि जहाँ-जहाँ हमको बोलना पड़ता था वहाँ वह मशीन बोलने लगे। महावीर यह चाहते थे कि अपने शागिर्दों के चाल-चलन की निगरानी मुझे न करनी पड़े और मैं इस इल्लत से बच जाऊँ। साथ ही, वह यह भी चाहते थे कि उनका चाल-चलन उनकी निगरानी के बिना भी खूब अच्छा रहे। इसके लिए उन्होंने सोच निकाला यह तरीका कि हरेक आत्मा मेहनत से परमात्मा हो सकता है और वह मेहनत है चाल-चलन को ठीक रखना। जेलखाने में जेलर को चैन के कुछ सॉस लेने के लिए गढ़े गए—कैदी, पहरेदार और वार्डर। स्कूल में मास्टर को सुख से एक गिलास पानी पीने को वक्त मिल जाय उसके लिए बनाये गए—मानीटर। यह सब-दिमागी औजार है और काम की काहिली की उपज है। हमारी हिन्दुस्तानी कांग्रेस सन् १९२० तक अंग्रेजी सरकार के बायलर की उस नली का काम करती रही, जो ज्यादा भाप देने पर उसको बाहर निकाल देती है और उसको फटने से बचाए रखती है। यह सरकार को आराम की सॉस लेने के लिए ह्यूम की गैडी हुई मशीन थी। सन् १९२० के बाद से नाम कांग्रेस ही रहा। यह असल में वह हिन्दुस्तानी पंचायत।

जीवन की गुत्थियों को सुलभाने की खूबी ही इस बात में है कि तुम एक के स्वार्थ का सबके साथ ठीक-ठीक मेल बिठा दो। आदमी जमात का एक हिस्सा है सही, पर उससे बड़ा होना चाहता है। हिस्सा कुल से बड़े होने की सोचे, यह अनोखी सिफत; इस राजनैतिक दुपाये में ही पाई जाती है। इस गुण का खयाल रखते हुए ही तुमको जलना होगा। दो काहिलियों को टकराने से बचाना होगा। जीवन की दुरुखी पर फतह पानी होगी।

हमारी हर कोशिश की मंशा यही होती है कि कोई आसान तरीका काम करने का मिल जाय! कीचड़ में भी पड़े पत्थर को उठाने में भीमसेन की कमर में भी भटका आ सकता है; पर उसी को क्रेन की मदद से पतला-दुबला आदमी बिना दिक्कत उठा लेता है। प्रकृति पर विजय तुम मन्त्रो

और यन्त्रों से ही पाते रहे हो। -बाहर की और चीजों की दुनिया में उससे फाँसवा उठाना रोज़मर्रा का काम बन गया है, पर जैसे ही अन्दरूनी उल-भूनें सामने आ जाती है या चिन्ताएँ आ घेरती हैं, तुम उससे काम लेना भूल जाते हो। तुम तटवीरों सोचना छोड़ बैठते हो। इतना ही नहीं शोर मचाने लगते हो कि फिकरो के दूर करने का कोई इलाज नहीं, लोग कहते ही रहे, हवाई सवारी नहीं बन सकती और बन गई। इसलिए हम मानने को तैयार नहीं हैं कि मन और मस्तक की तकलीफों के दूर करने का कोई उपाय ही नहीं है।

भीख मँगाने से भीख मिल जाती है, भूख भी मिट जाती है। उधार मिल जाने से फौरन की तकलीफ़ दूर हो जाती है, पर भीख और उधारी हमारे पैसा कमाने की काबलियत को हमेशा के लिए मटियामेट कर देती हैं। भीख और उधार के गलीज पानी से पैसा कमाने की मशीन को क्यों जंग लगवा रहे हो ! दुविधा का रोड़ा हटाकर उस मशीन को चलता क्यों नहीं कर देते ? भीख, उधार, इनाम, बज़ीफ़े तुम्हारे जानों को शिकंजे में कस रहे हैं। तुम में दम रहने ही नहीं देते। बात-वात में तुमको समझौता करना पड़ता है। ईसाई स्कूल में तुमको अपने मन के खिलाफ़ ईसा के गीत गाने पड़ते हैं, आर्य समाज स्कूल में ओ३म् का विल्ला लगाना पड़ता है, जैन स्कूल में 'जय जिनदेवा' का शोर मचाना पड़ता है और इस्लामी-स्कूल में बिस्मिल्ला ही से बिस्मिल्ला करनी पड़ती है। तुम बिना समझौते ईसा के गीत गाओ, ओ३म् का विल्ला लगाओ, 'जय जिनदेवा' गाओ, 'लाइलाहिल्लिल्लाह' पुकारो, तुम्हारे टिल बढेंगे, तुम में दम आयेगा। सन् २१ में इन्हीं नारों से हिन्दुस्तान जाग उठा था।

वह जवान जो खाने, पीने, पहनने ही नहीं, उठने-बैठने तक के लिए दूमरो की ओर ताकता है, वह युवती जिसने स्वाधीनता को अपना दुश्मन समझ रखा है, जब अपनी जिन्दगी को अपने हाथ में लेगे तो वे बहुत जल्द देखेंगे कि उनकी अर्पणें काम कर रही हैं और वे दुनिया में अपनी जगह बना रहे हैं। हमारी जिन्दगी का यह भी एक काम है और जरूरी काम है

कि अपने रास्ते में आई हुई रुकावटों को हटाते चले । हम बदले तो दुनिया बदल जायगी । किस्मत हमको नहीं बनाती, हम किस्मत को बनाते हैं । आजादी के दामों मोल ली वरदी जब कुछ की निगाह में तुम को उठा देती है और झूठी-सच्ची तडक-भडक भी पैदा कर देती है तब आजादी से पहनी वरदी क्या न कर दिखाएगी ! तुम्हें अपने अन्दर की ताकत के खजाने का पता चल जाएगा और काम की काहिली की देवी हाथ-बाँध तुम्हारे सामने खड़ी रहा करेगी ।

कर्मयोग का मतलब काम में लग जाना भर नहीं है, काम करने का कमाल हासिल करना है । काम में कमाल का मतलब ही यही है कि काम के काहिल के हाज़िर रहने से ही काम चल पड़े और ठीक-ठीक होने लगे । कृष्ण ऐसे ही काहिल थे । काम की काहिली के माहिर थे । व्यासजी ने जबर्दस्ती उनसे एक बार सुदर्शन उठवा दिया, पर हज़रत मुहम्मद ने कभी अपनी कमान पर तीर चढ़ाकर न दिया । नैपोलियन की हाज़िरी के करिश्मे किसने अंग्रेज़ी किताबों में नहीं पढ़े ? ऐसी शखसियतें आफतों में पडकर क्या करती हैं, यही वे बातें हैं जो जान लेना ज़रूरी है :—

१—आफत आई और इनका चित्त काहिल बना । सब तरफ से हटकर उसी के हल में लगा ।

२—खूब काम करने के बाद यानी थककर चूर होने के बाद तन-मन दोनों को काहिल बना दिया, यानी ढीला छोड़ दिया ।

३—छोटी-से-छोटी असुविधा का फौरन इलाज कर डालना ।

४—बोझ से टबकर हँसते-हँसते कन्धा बदल लेना, यानी काम के बोझ से बिना घबराये, चिड़चिड़ाये आसान तरीका निकाल लेना ।

५—आफत क्यों आई, कैसे आई, कहाँ से आई, यह न सोचकर उसके दूर करने में लग जाना ।

६—मौत के पजे में फँस जाने पर भी सच्चे खिलाड़ी की तरह जोर लगाते रहना और बच निकलने की उम्मीद बनाये रखना ।

७—आफत सिर पर आते ही अपने में डर पैदा करना और उस डर

से, आफत से बच निकलने का उपाय सोचने का काम लेना ।

८—अपने साथियों के साथ ऐसा सम्बन्ध स्थापित करना कि वे हर वक्त तुम्हारे फायदे की ही सोचें और कोई नुकसान न होने दे या क्रम-से-काम नुकसान करें ।

९—अपने लिए और त्रिलकुल अपने लिए कुछ-न-कुछ वक्त जरूर निकाल लेना ।

१०—अन्याय को कुचलते रहना, नहीं तो वह तुम्हें कुचलेगा ।

११—आफतों का स्वागत करना, क्योंकि वे तुम्हें—

(अ) जगानी है,

(ब) सबक देती है,

(स) अकल से काम लेना सिखाती है,

(द) जीवन की गुत्थियाँ सुलझाने में सहायक होती है ।

१२—तुम्हारा सुख तुम्हारी चित्त की एकाग्रता पर निर्भर है और वह यह कि वह कहीं लगता है ? कितनी शान्ति के साथ लगता है ? कितनी दृढ़ता के साथ लगता है ? और कितनी होशियारी के साथ ?

काम की काहिली चित्त से खूब काम लेने को कहते हैं, पर वह काम होगा वह जो हम लें । अपने ऊपर फतह हासिल करने का यही एक तरीका है । अपने पर फतह पाना औरों पर फतह पाने की कुंजी है । अपने पर फतह हासिल करने की सोचना गधे के सींग खोजना जैसा है । औरों को जीतने की सोचो ही नहीं । तुमने अपने को जीता और सब तुम्हारे भक्त बने । जिसका दिल काबू में है उसके लोग मुरीद बनना चाहते ही हैं, वह मुरीद बनाता नहीं । काम की काहिली यह देन तुमको देगी ।



: १३ :

आफतों से भिड़न्त

विजय बाहर नहीं है । वह तुम्हारे अन्दर है । उस विजय के हाथ के तुम बस हथियार भर बन जाओ । वह आफतो से भिड लेगी । उसकी सुनो और लडने कूट पडो ।

अकल तुमको मिली है और इसलिए कि उससे काम लो । उसका काम यही है कि तुम अन्तगत्मा की सुनो । पुरानी यादों के लबादे को उतार कर फेंक दो । आज की लडाईं आज के हथियारों से लडो । आज के हथियार भी आज गढो । आज सुने, देखे, सूँधे, चाखे और छुए से फायदा उठाओ । आज के तजुबे को भी आज के हथियारों की गढ़न में मिलाओ । तुम्हारे हथियार आज के न रहकर अब के बन जायें ।

ऊपर की सलाह मानकर तुमको पछताना न पड़ेगा और यो न कहना पड़ेगा कि ऐसा कर लेते तो हम यह कर डालते । पछताने के लिए कुछ छोडो ही नहीं ।

हथियारों को कही टैक-बम न समझ बैठना । लडाईं ने तुम्हारे कान ही नहीं, मन भी गन्दा कर रखा है । ऐसा समझ बैठना बडी बात नहीं । लडाईं इन हथियारों से नहीं जीती जाती । नहीं तो अब तक सारी दुनिया पर हिटलर का राज्य होता, या लार्ड जार्ज सागी दुनिया को सन् १९१८ ने ही अंग्रेजों को सौंप देते । रामचन्द्र के वीरो ने लड्का नहीं जीती थी । लड्का जीती थी, रामचन्द्र की उस दिल की सफाई ने जिससे उन्होंने विभी-

पण को गले लगाया था । आप्त की राक्षसी सेना, तीरो तोपो से न जीती जायगी । उसके लिए जरूरत होगी उसके राजा अहंकार को कुचलने की, जो तुम्हारी हृदय-कुटी में घुसकर विजय सीता को भगा ले जाने की सोच रहा है ।

जिनका मन साफ है, उनसे प्रकृति बातें करती है । व्याकरण-शास्त्री के लिए ढाल धुलना ढाल धुलना है । पर वही ढाल धुलना मन के साफ बुद्ध के लिए क्या था, पता है ? उसके लिए ढाल नहीं धुल रही थी, विजयदेवी अपने गन्दे वस्त्र उतारकर अपना नंगा यौवन दिखा रही थी । तभी तो यशोधरा-जैसी राजसुन्दरी और राहुल-जैसे गुलाब के फूल को छोड़ वे उससे नाता जोड़ने चल दिये । इन एम० ए०, बी० ए०, शास्त्री, उपाध्याय, आलम-फाजलो के ढिल गन्दे हैं, मुँदे हुए हैं, जभी तो देख लो, 'भले सेठ का आजकल, पंखा बी० ए० पास', इनका व्यवहार जभी तो अव्यावहारिक होता है । ये वेद के नहीं (यानी ज्ञान के नहीं) वेद में लिखे शब्दों के अर्थ कर सकते हैं । प्रकृति की बोली का एक अक्षर भी इन्हे नहीं आता ।

नसीहत की, सलाह की किसको जरूरत नहीं है ? और नसीहत कहीं नहीं है ? वह सब जगह है । ये भलेमानस अहंकार का परदा हटायें तो । मोह के जेलखाने में मन की दीवारें तोड़ डालो, माया का फाटक उखाड़ फेंको, लोभ की हथकड़ियाँ चूर-चूर कर दो और गुस्ते को खत्म कर दो । देखो अभी प्रकृति तुम्हारे सामने सारा भेद खोलकर रख देगी । विज्ञान के झमेले में न पड़ना । उमने सिवाय हमारे मान, माया, लोभ और गुस्ते को स्थूल रूप देने के कुछ भी नहीं किया । इन्को जड़ में यही थे । पैदा भी यही होने थे । जैसे आजकल के संगठन की जड़ में नफरत है और वे वही फल लायेंगी जो उसमें है । न विज्ञान जुग, न संगठन । और कुर्बेन ही क्या जुगी, जहर ही क्या जुरा ? कुर्बेन चौर-फाड़ में बटे काम की, जहर बीमारी का इलाज । पर व्यभिचारी कुर्बेन खाते हैं व्यभिचार के लिए और मार्ग शोधी जहर खाते हैं अपघात के लिए । अन्तरात्मा की सुनना सीखो ।

विज्ञान तुम्हारी मदद करेगा। मन के गुलामो को विज्ञान खा जायगा। इसे जवानो, याद रखना। हम विज्ञान जानते है, हम भौतिक-विज्ञान के परिडत है, हम रसायन-शास्त्र के ज्ञाता है, हम अर्थ-शास्त्री हैं, हम सिद्धान्त-शास्त्री है। आप कुछ नहीं जानते, अगर आदमियो की तरह रहना नहीं जानते।

हमे किसी चीज की जरूरत नहीं है। जरूरत है खुदी से नाता तोड़कर खुदा से नाता जोडने की। जवानो, खुदी, खुदा, डरावनी चीजें नहीं। खुदा से नाता जोडने का मतलब है सच्चाई को मानना। हम चीजों को जानते है, सच्चाई को नहीं। जो यह जानता है कि चोंद है, सूरज है, वह बेवकूफ, मूर्ख, जाहिल। जो यह जानता है वे हैं और इसलिए है, वह समझदार, ज्ञानी, परिडत, आलिम। बन्दूक है और कैसे चलती है यह सिपाही जानता है और वह जाहिल है। बन्दूक कब और किस पर चलाई जाती है, जो यह जानता है वह जनरल है, इससे कुछ समझदार है। बन्दूक चलाने का कब वक्त आता है, कहां वक्त आता है, जो यह जानता है वह वजीर है, वह जनरल से कही ज़्यादा समझदार है। बन्दूक आदमियो पर चलाने की चीज नहीं, सिर्फ डराने की चीज है, जो यह जानता है वह पुरोहित है, परिडत है, विद्वान है। इन सबकी ज्ञानियो मे गिनती की जाती है। बन्दूक तोड़ फेकने की चीज है। खुदा मुझमे है और सब मे है, जो ऐसा मानता, जानता और व्यवहार करता है वह महात्मा है, साफ मन है। वह परमात्मा के निकट है। उसकी सुनो। आफते भाग जायेंगी।

“जिन खोजा तिन पाइयो, गहरे पानी पैठ”—सच्चाई को खोजो, वह मिलेगी। एक औरत मर गई। यह जानना सच्चाई जानना नहीं है। वह जहर खाकर मर गई। यह जान लेना सच्चाई तक पहुँचना नहीं है। किसने जहर लाकर दिया, क्यों दिया, यह भी सच्चाई नहीं है। सच्चाई है यह जानना कि जहर खाने पर किन बातों ने उसे मजबूर किया? क्यों वह उन बातों से मजबूर हुई? क्या किया जाय कि औरतें यो मजबूर न हुआ करे, इत्यादि। दुनिया जीती रही है, जी रही है, जीती रहेगी; जीवन का सिलसिला यो-

ही चलता रहेगा । फिर भी गुजरा कल वापिस नहीं आएगा । आज, आज ही रहेगा । जितने काम हो रहे हैं, सबके पोछे कोई मतलब रहता है । उस मतलब को जानना ही काम है । मतलब अहंकार है तो छोड़ना सफलता है । मतलब निर्विकार है, साफ है, भला है तो अपनाना, अनुकरण करना, नकल करना सफलता है ।

‘कोई न हो तो पगड़ी से सलाह ले लो’—यह बड़ों की नसीहत है । ठीक है । सोचकर काम करना ही चाहिए । सोचना बुद्धि का काम है । बुद्धि काम को सरल और सीधा बना सकती है । काम करा नहीं सकती । काम में लगाती और कराती है लगन । दिल में लगे बिना काम होगा ही नहीं, होगा तो ढीला होगा और अपना न होकर किसी और का होगा । बुद्धि लगन के बिना मरा हुआ सुन्दर सुडौल घोडा है । सिद्धान्त, वेद, गीता, कुरान, वाइविल, त्रिपिटक यादकर कभी किसी ने कुछ नहीं किया । रत्ती-भर लगन से, इन सब में क्या है, यह यो ही समझ में आ जाता है । महापुरुषों के अनुभव किताबों में हैं; पर सब-के-सब नहीं हैं । सबके सब तो हवा में है, वायु-मण्डल में है । लगन तुम्हारे मन को रेडियो में बदलेगी और हवा में से तुम इन भावों को पकड़ लोगे । हाँ, एक-चित्तता की खूँटी तो मरोडनी ही पड़ेगी । तुम्हें अनेकों अनुभव ऐसे हाथ आयेंगे, जो किसी किताब में नहीं मिलेंगे । ईंट, पत्थर, घास-पात और कागज वाली छोटी-छोटी किताबों से अनुभव आ भी कैसे सकते हैं और जो-कुछ आ भी गया है, वह बोली, कलम, स्वाही से ठीक ही रहा होगा. इसका भी क्या ठिकाना ! जभी तो सभी सन्त इन किताबों के खिलाफ आवाज उठाते ही हैं । जो सन्त है और ऐसी आवाज नहीं उठाते वे आ तो सन्त ही नहीं हैं या वायु-मण्डल में से उनके पल्ले ही कुछ नहीं पडा । जब तक नई चीज पल्ले न पड़े, लगन नहीं लगती और लगन-इजिन के बिना काम की गाड़ी नहीं खिचती ।

लगन के बिना जीते-जी मुठें बना रहना है । बुद्धिमान बनकर इसके बिना नारे-मारे फिरेगे । तुम से और काम ले सहेँगे, तुम औरों से काम

न ले सकोगे। लगन पैदा करो, छोटी-बड़ी कैसी भी। दिल हिलाओ, देह हिलेगी। पास वाले भी हिल जायेंगे। लगन जोर की होगी तो दुनिया हिल उठेगी।

लगन कैसे लगे ? तुम आफतो मे घिरकर किस पर खीज उठते हो ? कौन बात तुम्हारी आत्मा मे खुजली पैदा कर देती है ? क्या सुनकर तुम भिन्ना उठते हो ? बस, उसी खीज को मिटाने मे, उसी खुजली को दूर करने मे, उसी तिलमिलाहट को मिटाने मे लग जाओ। जब तक न मिटा लो, टम न लो, शान्ति न लो। शान्ति निटूठलेपन का नाम नही है। शान्ति मन की एक हालत का नाम है। वह हालत मन को लगन के पक जाने पर नसीब होती है। पण्डितो ने पक्की लगन का नाम रखा है 'अब-गाढ सम्यक्त्व'। लगन जब बालक होती है तो खूब तोड-मरोड करती है। खूब शोर-गुल करती है। खूब लडती-भगती है। पर ऐसी लगन वाली आत्मा भी खुश रहती है। लगन जब बडी उम्र की हो जाती है तब इतनी शान्त दीख पडती है, जैसे वह मर गई हो। जोर से घूमने वाला लड्डू शान्त, स्थिर-सा दीख पडता है, पर वास्तव मे वह बहुत काम कर रहा होता है। सर्जन के काम मे भारी-से-भारी आत्माओ के पास समय कहां, रुचि कहां, ध्यान कहां ? अब उनकी जीभ नही चलती। सारी देह ही जीभ बन गई है। और वह चल ही रही है। मान, माया, लोभ और गुस्सा जो तुम्हे नचाते थे, अब तुम्हारे इशारे पर नाचते है। तब टाते थे, अब बनाते है।

सुख-दुःख की तरह वीरता और कायरता भी तुम्हारे ही अन्दर है। भोली-भाली डरपोक गाय बच्चे की खातिर शेर को सींग जमा देती है। यह क्यों ? वीरता उसमे थी। बछड़े के प्रेम ने उसमे लगन पैदा की और उसने उसका उपयोग कर लिया। तुम्हे यह सुनकर अचरज मालूम होगा कि कायरता वीरता का दूसरा नाम है। सुस्त वीरता, काहिल बहादुरी, कायरता कहलाती है। अचरज न करो। नौकर दरोगा और बरखास्त दरोगा एक ही होते है। पर दोनो मे फर्क कितना है ? बरखास्त जनरल को एक मामूली सिपाही ठोक सकता है और वह सिपाही, जो कल उसके

सामने जाते भय खाता था ! कायरता गुस्से की ठोकर खाकर सुस्ती फेंक वीरता बन जाती है । लगन वाले आदमी औरों पर गुस्सा न कर अपनी कायरता पर गुस्सा उतारा करते हैं और यो उसे मैदान में ला खड़ा कर देते हैं । गुरु गोविन्दसिंह यह मानते थे । तभी तो कह गए—“चिड़ियो को बाज बनाऊँ तो गोविन्दसिंह कहलाऊँ ।”

गड़े लट्टू और घूमते लट्टू को कौन नहीं पहचान लेता ? सवाल निकालने में भस्त और पीनक में डूबे हुए में कौन फर्क नहीं कर सकता ? लकड़ी के बल पर नाचने वाले बन्दर और अपनी मरजी से किल्लोल करते बन्दर को कौन नहीं पहचानता ? फिर काम में लगाये गए और लगे के समझने में क्यों मुश्किल होगी ? जो लगाये जाते हैं, वे गाढ़कर खड़े किये लट्टू हैं । वे मुर्दा है । उनकी नकल न करना । सच्ची, न भूठी ! भूठी नकल है—जैसा और करे वैसा करना, यानी लँगोटी बँधकर गॉधी बनना । सच्ची नकल है—उन जैसा उत्साही, जोशीला, निडर और लगन वाला बनना । यानी सच्चाई पर डटकर गॉधी बनना । गड़े लट्टूओं में न उत्साह होता है, न काम ! नकल किसकी की जाय ? आग में फँसे कीड़े को निकालने वाले चिमटे की नकल नहीं की जाती और न उससे कोई सबक सीखा जा सकता है । नकल की जाती है आग में फँसे कीड़े को हाथ डालकर निकालने वाले आदमी की और वह भी उसके उत्साह की, काम की नहीं । कहीं हम इस तलाश में थोड़े ही बैठे रहेंगे कि कब कीड़ा आग में गिरे और हम निकाले !

कोई वाप अपना नाम जपने वाले बेटे से खुश नहीं हो सकता । राम अगर कोई सच्चे मानी में राम है तो राम-नाम जपने वालों को माफ नहीं करेगा और अगर वह माफ कर भी दे तो कोई पानीदार आदमी उस माफ़ी को पाकर खुश नहीं होगा । चोरी से एक कच्चा आम तोड़ने वाले साधु ने राम जपकर प्रायश्चित्त नहीं किया था । उसने राजा के दरवार में पहुँचकर अपना हाथ कटवाया था । वह था भी पानीदार, श्रीमन्त्री सटी का बेहया घर्मात्मा नहीं था । हाथ-पर-हाथ रख बैठकर तुम सिर्फ़ काहिलों को धोखा

दे सकते हो; समझदारो को नहीं। पर तुम ऐसा करने की सोचो भी तो क्यों ? लगनवाले के सोच, समझ और काम एक लाख छियासी हजार मील फी सैक्रेण्ड की चाल से चलते हैं। वह सुस्ती से काम नहीं किया करता।

अगर सचमुच कोई उलझन समझने में ही नहीं आ रही और सोचना ही है तो उठाओ कुल्हाड़ी और लगे लकड़ी चीरने। और देखो तुम्हारी बुद्धि चुटकियों में उसे कैसे सुलभा देती है। जितनी ज़्यादा उलझी गुत्थी हो उतने ही जोर से काम में लगे। बैठो नहीं, बुडबुडाओ नहीं, सोच में न पडो, औरो से न अडो, न हल के लिए लडो। बैठे हो तो खडे हो जाओ, खडे हो तो हाथ हिलाओ, घर में हो तो ऑगन में आओ, ऑगन में हो तो बगीचे में जाओ। खुरपा उठाओ और घास निलाओ। वही जवाब मिलेगा। दुनिया क्या है ? इस सवाल का जवाब गुरु नानक ने भूलियों साफ करते-करते दिया था। कबीर साहिब कपडा बुनते-बुनते क्या-कुछ नहीं सोचते थे ? उस जुलाहे ने बीसवीं सदी के जवान प्रसिद्ध कवि रवीन्द्र को मोह लिया। काम करते सोचना काम का होता है। बे-काम सोचना बेकार जाता है। जाता है तो जाओ, दुःख इस बात का है कि तुम्हें बेकार कर देगा।

ऊपर की पंक्तियों में बार-बार काम करने पर जोर दिया गया है। उस की वजह है। आजकल के जवान काम करते शरमाते हैं। काम न करना हिन्दुस्तान की मिट्टी में नहीं है। यूरोप की मिट्टी में भी नहीं। कहीं की मिट्टी में नहीं। काम न करने की थोड़ी-बहुत बीमारियाँ सब जगह हैं। पर यहाँ इस बीमारी ने पचास-साठ वर्ष में ही जोर पकड़ा है। यह बीमारी स्कूल की ऊँची क्लासों से शुरू होती है और कालेज की ऊँची क्लासों में जाकर लाइलाज हो जाती है। स्कूल और कालिज मानो इसके अड्डे हैं। मतलब यह कि यह बेहद बढ़ती जा रही है। इसीलिए इस पर ज़्यादा जोर दिया गया है। पर याद रहे कि हमने जहाँ भी काम में लगने पर जोर दिया है वहाँ हमारा मतलब चिंताओं के लतियाने का रहा है। काम में जानबरो की तरह लगना काम नहीं कहलाता। मजदूर काम में लगकर भी

काम नहीं कर पाता । सिपाही लडाई जीतकर भी नहीं जीतता । लडाई खत्म होने के बाद वह डाके और चोरी से ही पेट भर सकता है । अगर उसके मालिक दया करके उसको नहीं निकालते तो वह ठाली रहकर तनेले के घोड़े की तरह तनेले की दीवारें तोडा करता है । उसने काम किया भी कब ? उससे काम लिया गया । जवरदस्ती भरती का कानून यह साफ बताता है कि पेट भरे लडना नहीं चाहते । भूखे ही लडते हैं । वे दुश्मन से नहीं लडते, पापी पेट से लडते हैं । दो लडनेवाले मुल्को में जीत उसकी होती है जिसके पास जी-से आजादी के लिए लडनेवालों की तादाद ज्यादा हुआ करती है, यानी सचमुच काम करनेवालों की । काम का नाम उसी काम को दिया जाता है जो काम करने वाले में अपनी प्रतिक्रिया, कोई गहरा निशान, दिल पर छोड जाय, यानी जीवन में किसी गुत्थी का हल सुलभा जाय । काम एक सबक और भी देता है । वह यह कि वह उस समय की हालत पर असर डालता है । कबीर का काम बुनना नहीं था । कबीर का काम था ईश्वर को ढूँढना, सोते हुआ को जगाना; हिन्दू-मुसलमानों को आदमी बनाना, भूले-भटको को राह बताना । राजाओं और अमीरों को उच्छृङ्खल न होने देना । बुनना कबीर को रोटियों देता था । वह रोटियों देता था, पेटुओं की नज़रों में । मेरी नज़र में वह आजादी देता था, मस्ती देता था, ईश्वर का और उसकी सृष्टि का भेद बताता था । उसकी गाढ विद्यापीठ थी । उसके सामने फैला काम वेद का पन्ना था । देखो, 'भीनी भीनी भीनी वीनी चदरिया' में इंगला, पिंगला, सुपुम्ना वगैरः हठयोग और 'ज्यों की त्यों घर दीनी चदरिया' में उपनिषद् मौजूद हैं । गांधी का चरखा कातना काम था । अली-बन्दुओं में मुहम्मदअली को मैंने चरखा कातते देखा था । घण्टे भर में दस गज सूत भी नहीं निकलता था, पर वह काम था । बर काम उनको रांटी नहीं देता था । शायद एक-आध टुकड़ा ले जाता था । पर था वह काम । उस काम में से वे जगे और औरों को जगाया ।

सुलाना यह कि काम की मशीन न बनना ! मन-मस्तक दोनों लगाकर

आफ़तों से भिड़न्त

हिम्मत और विश्वास के साथ लगोगे तो तुम्हारी गिनती हिम्मतवालों में होगी। और बुझे मन से लगोगे तो गुलामों में, कायरो में गिने जाओगे। हिम्मत के साथ और मन के लगने से तुमको मन पर काबू करना आ जायगा और बुझे मन से लगकर तुम मन के काबू में हो जाओगे। यह जानकर तुम्हें अचरज होगा कि मन को पूरी तरह काम में लगाने के बाद मन तुमको जगत् की बड़ी-बड़ी गुस्थियों खोलकर बता देगा और कुछ ही दिनों में तुम्हारी गिनती विचारकों में होने लगेगी, दार्शनिकों में होने लगेगी। दर्शन-शास्त्री तुमको निठल्ले मिल सकते हैं, पर दर्शनकार निठल्ले नहीं थे। वे तो घूमते लट्टू की तरह काम में लगे रहते थे। कुछ पैदा करने वाला काम ही काम कहलाता है। कोरा काम काम नहीं। कोरा काम तो उस भाप की तरह बेकार जाता है, जिसको कभी कही रेल का ड्राइवर ज्यादा होने से निकाल दिया करता है।

आफ़तों से भिड़ने में इस तरह का काम बड़े काम आयेगा। आफ़तों में बहुत-सी आफ़तें नासमझी की हुआ करती हैं और जब काम में लगकर मन जगत् के जजाल को सुलभाकर तुम्हारे सामने रख देगा तब आफ़तों से जो भिड़न्त होगी उसमें तुम्हारा पल्ला भारी रहेगा।

आफ़तों में भिड़कर हमारी हार क्यों हुआ करती है? अगर उन बातों को हम जान लें तो उनसे भिड़ने में हमें और भी आसानी होगी। वे हैं :

- (१) यह मान बैठना कि बिना पैसे कुछ हो ही नहीं सकता।
- (२) हम तो मामूली आदमी हैं। हमारी कौन सुनेगा?
- (३) विरोध का सामना हमसे न हो सकेगा।
- (४) दुनिया न बदली, न बदलेगी।
- (५) नये पुराने की टक्कर।



द्वितीय खण्ड

: १ :

विश्वास

‘खुकुल रीति सदा चल आई, प्राण जाहि पर वचन न जाई।’
तुलसीकृत रामायण की यह आधी चौपाई है। ढाँडी मार्च में इकतारें पर जब यह गाई जाती थी तो लाखों के दिल हिला देती थी, सैकड़ों की नसों में खून दौड़ने लगता था और वे हथेली पर सर रखकर देश की आजादी के मैदान में कूटने को तैयार हो जाते थे। वास्तव में वचन देकर निभाना ही चाहिए। पर हर कोई नहीं निभा सकता। हाँ, हर कोई वचन दे सकता है। वचन देकर निभाना बहादुरों का काम है। पर वचन निभाने से बढ़कर एक और बहादुरी है और वह है अपने को वचन देकर निभाना। बहादुर भी वचन देते हैं और कायर भी; पर बहादुरों के वचन उस ज्ञान-वज्र के टुकड़े होते हैं जो बहादुरों को अपनी शक्ति की जानकारी से होता है, जो वे अटूट होते हैं। कायर के वचन अज्ञान कपूर के टूक होते हैं, जो आपत्ति की हवा पाकर उड़ जाते हैं। अपने को वचन देना यानी अपने में बंध जाना, अपनी आत्मा और उसकी बेहद ताकत को मान लेना, उसकी ताकत पर भरोसा हो जाना। यही अपने को वचन देना, विश्वास, श्रद्धा, प्रतीति, दर्शन, अक्कीदा और धर्म नामों से पुकारा जाता है। जो अपने प्रति सच्चा है उसके बल का टिकाना नहीं। लगन कहते हैं, सब ओर से हटकर मन

का एक ओर लग जाना । और ऐसी लगन बिना विश्वास के नहीं होती, फिर वह विश्वास किसी किस्म का क्यों न हो । विश्वास की किस्मे हो सकती है, पर सब किस्मों की जड में आत्मबल का विश्वास रहता ही है । विश्वास का अर्थ है अपने को वचन देना, यानी अपने को अपने सुपुर्द कर देना या अपने को पहचान लेना । अंग्रेजी में इसे 'सैल्फ कंट्रोल' कह सकते हैं । कोई लगन वाला आदमी मन टटोलकर इस सच्चाई को जान सकता है । लगन वाला आदमी साफ-साफ देख सकता है कि किस प्रकार उसकी तमाम ज्ञानेन्द्रियों सिमटकर उसी के चारों ओर जमा हो गई हैं, जिसका उसको विश्वास हो गया है । रावण और राम का डीलडौल में कोई मुकाबिला ही न था । रावण राम को बगल में ढबाकर भाग जा सकता था; पर राम से मारा गया । क्यों ? रावण दशमुख भी था । राम थे एकमुखी । दशमुख का अर्थ ही यही है कि उसका मन ढसियों ओर चलता था । वह भला एक ही ओर मन रखने वाले राम का कैसे मुकाबिला कर सकता था । लडाइयों देह से नहीं जीती जाती, लगन से जीती जाती हैं । राम को सिर्फ सीता लेनी थी, न लड्डा चाहिए थी, न साकेत का राज । रावण को चाहिए थी सीता, लड्डा का राज, दक्षिणी हिन्दुस्तान पर कब्जा और न जाने क्या-क्या ? उसे हारना ही था, उसे किसी एक का विश्वास जो न था ! राम का एक में विश्वास विभीषण को जंच गया । लड्डा धूल में मिलकर भी बच गई । सूरज में बड़ी आग है, पर जलता नहीं उससे एक-तिनका भी । आतशी-शीशा हाथ में लेकर उसी आग से आदमी कपडा जलाकर गोंव जला डाल सकता है । हम-तुम में, साढ़े तीन हाथ के होते हुए भी, बड़ी ताकत है । हम भी सूरज की तरह किरण बखेर रहे हैं । विश्वास के आतशी-शीशे से उनको इकट्ठी कर सकते हैं और चमत्कार दिखा सकते हैं । विश्वास व्यक्ति में भी हो सकता है, काम में भी, विचार में भी, सम्भावना में भी; पर होना चाहिए वह किसी काम का, जिसकी खातिर जान लड़ाई जा सके । बिखरी हुई ताकतों के धागों को मिलाकर एक नोक निकालने का विश्वास ही एक मन्त्र है । सृजन की सुई की नोक में वही धागा पिरो सकता

है और आजादी की चादर में आई खोप को वही सी सकता है ।

चारों ओर हाथ मारने वालों के हाथ कुछ नहीं आता । अकबर राज की बागडोर हाथ में रख दीन-इलाही को नहीं चला सका । राज न छोड़ना ही दीन-इलाही में विश्वास न होने का सबूत है । महावीर, बुद्ध, ईसा, मुहम्मद विश्वासी थे, आत्म-विश्वासी थे, आत्मबल विश्वासी थे, चमत्कार दिखला गए । असल बात यह है कि कोई कितना ही ईमानदार और समझदार क्यों न हो, अपने में जब चाहे विश्वास पैदा नहीं कर सकता । अब सवाल पैदा होता है कि यह विश्वास आता कहाँ से है ? आता भी कहाँ से नहीं है, यह भी ठीक है । तब क्या बात है ? बात यह है कि मैं बाजार में खड़ा हूँ, हलवाई की दुकान पास है । रुपये से खाना मिल सकता है, यह भी मैं मानता हूँ । मेरी जेब में रुपया भी है । पर जेब में रुपया होने की बात मुझे मालूम नहीं । मैं भूखा खड़ा-खड़ा ललचाई आँखों से दुकान की ओर देख रहा हूँ । पाँव उस ओर जाने को उठते ही नहीं, मेरा सारा बल बेकार, मन तरह-तरह की तदबीरे सोच रहा है । अचानक जेब में हाथ जाता है, रुपये का शान होता है, मन एकाग्र होता है, बल आता है, दुकान की ओर चल देता हूँ । यूँ विश्वास आता नहीं है, जागता है । यानी विश्वास हम में ही है, प्रेम की तरह यह भी हमको जन्म से ही मिला है । प्रेम का मिथ्या व्यवहार कम नाम पाता है, इसी प्रकार विश्वास का मिथ्या व्यवहार अन्धश्रद्धा के नाम से पुकारा जाता है । विश्वास के बिना हम एक क्षण भी नहीं रहते, पर वह सब अन्ध-विश्वास ही होता है । सती होने के नाते सीता आग में नहीं जली थी, इस विश्वास पर कई सच्ची औरते जान दे चुकी हैं । कटे-सिर को देवी फिर जोड़ देती है, इस विश्वास पर दसियों ने अपना सिर काट डाला है । सच्चो को ईश्वर तैरा देता है, इस विश्वास पर अनेको सच्चे डूबकर मर चुके । ये सब विश्वास हैं अन्ध-विश्वास । फलित ज्योतिष का विश्वास, छींक का विश्वास, शकुनों का विश्वास; और न मालूम क्या-क्या ! आजकल विश्वास बाजारू चीज यनी हुई है । महावीर, बुद्ध, ईसा, मुहम्मद यह विश्वास नहीं कर सकते कि

विश्वास

आजकल के आदमी इतने विश्वासी हो गए हैं। मतलब यह कि आज विश्वास इतना बढा हुआ है कि उसे कम करने से ही हम आत्म-विश्वास तक पहुँच सकते हैं। पूजा-नमाज, मन्दिर-मस्जिद, चोटी-दाढी, छूत-अछूत, मोमिन-काफिर, आर्य-म्लेच्छ इत्यादि अति विश्वास की ही उपज हैं। आदमी क्या करे, विश्वास उसमे ऐसे ही है जैसे उसके हाथ-पॉव। हाथ से वह जहर खा सकता है, पॉव से वह आग में कूद सकता है, विश्वास से वह सर कटा सकता है और काट सकता है। उसमे विश्वास है, इसलिए राजा में विश्वास करना ही होगा, पार्टी में भी, साधू में भी, नरक में भी और ईश्वर में तो विश्वास लेकर ही पैदा हुआ है।

बाजारों में आवाज सुनाई देती है, अंजील पर विश्वास लाओ, कुरान पर विश्वास लाओ, वेद पर और न मालूम किस-किस पर विश्वास लावे कहों से? हमारे पास पहले से ही है। जो है वह बहुत कामों में फँसा है, उसे फुरसत कहों! विश्वास हममें है, लाने की जरूरत नहीं है। उससे ठीक काम लेने की जरूरत है। विश्वासी सब हैं, अविश्वासी कोई नहीं, पागल भी नहीं। सब धर्म एक हैं, ऐसा विश्वास करने वाला अपने पैदायशी धर्म हिन्दू, जैन, बौद्ध, पारसी, ईसाई, इस्लाम को छोड़ सकता है, विश्वास को नहीं। धर्म और विश्वास एक माने जाने वाले शब्द है तो धर्म भी नहीं छोड़ा जा सकता। 'ईश्वर है' इस पर विश्वास नहीं करते, मत करो, 'ईश्वर नहीं है' इस पर विश्वास करो, विश्वास से बचकर कहों जाओगे।

विश्वास आत्मा का गुण है और इसीलिए है कि वह अपने (आत्मा के) होने की जानकारी करा दे। इसका दुरुपयोग जीवन की धड्डियों उड़ा देगा, आदमी से आदमी को लड़ा देगा, मनुष्य को पशु बना देगा, सुख को भगा देगा, शान्ति को पास न आने देगा और इसका सदुपयोग एक की सभ पर, सब की एक पर और सब की सब पर विजय-लाभ कराएगा। हम दुनिया को रहने की जगह बनाएगा, स्वर्ग और मोक्ष यही ला धरेगा।

विश्वास की किस्में

विजली की तरह विश्वास भी गरम-ठण्डा दो तरह का होता है । यहाँ हमारा मतलब गरम विश्वास से ही है, यानी सच्चे विश्वास से ।

विश्वास ज्ञान को काम में लगा देता है । ज्ञान की तसल्ली जानने में नहीं है, करने में है । आत्मा ज्ञानी है, वही देह-रथ का सारथी है । मारथी रथ पर रथ चलाने के लिए ही सवार होता है, सवार होने के लिए सवार नहीं होता । रथ पर सवार होकर रथ न चलाना अपनी हँसी उडवाना है । विश्वास के बिना ज्ञानी आत्मा देह से उचित काम न लेकर हँसी का निशाना बनता है ।

जिनका विश्वास ठण्डा पड़ गया है उनके नाम हैं—अविश्वासी, मिथ्याभिमानी, कुविश्वासी इत्यादि । ये अविश्वासी कई प्रकार के हो सकते हैं ।

१. मरे-मन—ऐसे लोगों में बाहरी कोई कमी नहीं पाई जाती । मोटे ताजे, खाते-पीते, भले-चंगे, बड़े दयालु, बड़े ईमानदार; पर करेंगे कुछ नहीं । जोखम से कोसो दूर भागेंगे । जीवन का कोई उद्देश्य नहीं बनायेंगे । आराम-पसन्द होंगे और ब्रे-परवाही की जिन्दगी बितायेंगे । आत्मा तो उसके अन्दर रहती ही है, पर उसकी तमाम ताकतें सोई पड़ी रहती हैं । इनसे कुछ आशा ही नहीं की जा सकती, जब तक इनमें विश्वास न जागे और लगन न लगे । ऐसा कोई हिन्दू अगर इस्लाम में बताने सातवें आगमान में बैठे एक ईश्वर का विश्वास कर मुसलमान हो जाय तो मुझे खुशी होगी, क्योंकि यह विश्वास उसमें ज्ञान फूँक देगा, ज्ञान को काम में लगा देगा । कोई एक अदृश्य ताकत है जो हम सबसे काम ले रही है, वह मन्चा विश्वास है, गन्ध विश्वास है और ऐसा विश्वास वाला कुछ कर गुज़रेगा ठीक इसी प्रकार कोई मन-मरा मुसलमान हिन्दू-धर्म में बताने ईश्वर के सब जगह मौजूद होने में यकीन ले आए तो हर मन्चे मुसलमान को खुशी दोगी, क्योंकि यह मुसलमान खुदा का ज्ञानदार बनता बन जायगा । अन्दीदे वाले का नाम ही मोमिन और मुसलमान है । विश्वास लाये बिना 'मरे-मन'

मे जान न पड़ेगी, फिर चाहे वह विश्वास व्यक्ति में हो, सिद्धान्त में हो, धर्म में हो, या किसी काम में हो। 'धर्म बदलना' जैसा बोल रिवाज में आ गया है, पर है बिलकुल गलत मुहावरा। 'धर्म लाना' समझ में आता है। बुराई छोड़ो, नेकी पर धर्म लाओ। जो हिन्दू नहीं है उसे मुसलमान ही जाना चाहिए। जो मुसलमान नहीं उसे हिन्दू बनाना ही ठोक है। हिन्दू और मुसलमान दोनों के अर्थ धर्मात्मा है। 'मैं हलवाई' कहने वाले को हलवा बनाना आना ही चाहिए, नहीं तो वह हलवाई ही नहीं। मैं जैन, मैं सिक्ख, मैं पारसी, मैं मुसलमान, मैं हिन्दू कहने वाले धर्मात्मा होने ही चाहिएँ, नहीं तो वे वे नहीं। धर्मात्मा का अर्थ है विश्वासी, अकल-मन्द। विश्वासी निकम्मा नहीं मिलेगा, वह तो पैदा होने से मरने तक दुनिया को कुछ ऊँचा ही कर जायगा। 'मरे-मन' को विश्वास लाना ही पड़ेगा, नहीं तो उसकी जिन्दगी कौड़ी काम की न होगी। वे लगन आदमी धर्मात्मा नहीं होता। आदमी ही नहीं होता। 'विश्वास ज्ञान का दुश्मन,' जो यह कहे वह विश्वासी नहीं। ज्ञान सागर में उठने वाली तरंगों का नाम ही विश्वास है ! विश्वास ज्ञान है और ज्ञान विश्वास। सागर तरंगों के बस चुप नहीं रह सकता, ज्ञानी विश्वास के बस निठल्ला नहीं बैठ सकता। संसार को कुछ-न-कुछ काम की चीज देता ही रहेगा। तरंग हलकी हो सकती है, सो सकती है, पर सागर से अलग नहीं हो सकती। यही हाल विश्वास का है। वह है सब में, पर जागा हुआ है कम में। 'मरे-मन' में उसे जगाना ही होगा। 'मरे-मन' में ज्ञान तो जीते-मन जितना ही होता है और वह बिजली की तरह चमकदार, अनमोल रत्नों को दिखा भी देता है, पर उन रत्नों को विश्वास के बिना उठाकर कौन लाये और फिर अपनाये कैसे जायें ? मछली तैरती है, मैं तैर सकता हूँ, इस विश्वास ने तैरना सिखा दिया। पत्नी उडता है, मैं उड सकता हूँ, इस विश्वास ने हवाई जहाज बना दिया। बनाया ज्ञान ने यह सही, पर वह तो हमेशा है, पहले क्यों नहीं बना ? विश्वास न था। पर वह तो सदा से है। उडने में कब था ? ईश्वर में था, उसके चमत्कारों में था। आत्मा और ज्ञान की ताक्तों में कब था ? संस्कृत-

शब्दों में मुझे 'विज्ञान' शब्द ही पसन्द आया है; क्योंकि यह विश्वास ज्ञान से मिलकर बना है ! विज्ञान बिना विश्वास टस-से-मम नहीं हो सकता । धर्म भी बिना विश्वास के न आत्मा को पा सकता है और न परमात्मा को । विश्वास से नकशे बनते और ज्ञान से मकान खड़े होते हैं । विश्वास कहता है—'हो सकता है ।' ज्ञान करने में लग जाता है और कर डालता है । ज्ञान जागता, उठता काम में लगा ही रहता है; पर जगाता-उठाता और लगाता विश्वास है । 'मरे-मन' को उसकी सबसे ज्यादा जरूरत है ।

सिद्धान्तों में बना, ग्रन्थों में पाया, बाप-दादों से हाथ लगा; जोश में जागा विश्वास खास तौर से ज्ञान का दुश्मन होता है और वह कुविश्वास या अन्ध विश्वास नाम पाता है । वह जान-सागर में लहरे उठाने की बजाय उन्हे टावता है; परन्तु मन में स्वभाव-रूप से जागा विश्वास ज्ञान में लहरे उठाता ही उठाता है । वह सदा सच्चा विश्वास होता है । ऐसा विश्वास परीक्षा-प्रधान होने के नाते बड़े-बड़े काम कर जाता है । परीक्षा-प्रधानी का चित्त बड़ी जल्दी एकाग्र होता है । 'मरे-मन' को वही जगा सकता है, सिद्धान्त-ग्रन्थ नहीं । यहाँ यह समझ लेना चाहिए कि विनाश के लिए, मार्काट के लिए, व्यभिचार के लिए ज्ञान को जगाने में भी विश्वास की जरूरत होती है, पर उम विश्वास को कुविश्वास नाम दिया जाता है—क्यों ? क्योंकि हमारे जीवन का भाग रचनात्मक और अहिंसात्मक कामों पर निर्भर है । कुविश्वास सुविश्वास का एक भाग है सही, पर ऐसा ही भाग है जैसे टट्टी हमारे खाये हुए भोजन का बढवूदार और निकम्मा हिस्सा होता है, उससे काम ले लेना बुद्धिमानी है, पर उसके बनाने के कारखाने खोलना अशुद्धिमानी ही नहीं, मूर्खता है, पाप है ।

विश्वास पर कुछ कहना मुश्किल और नाजुक भले ही हो, पर अमम्य नहीं । प्रेम पर करना ही कौन आसान है ? और आत्मा पर ? यह तो और भी कठिन । पर कहा तो इन पर भी गया है । बुद्ध में ढाल धुलने से विश्वास जाग गया, दमयन्ती की प्रेम की आँखों में लाल का जिक्र सुनने से खुल गई, लंजा काली होते भी मजदूर की आँखों में पस गई । पर क्या कोई ढाल धो

किसी में विश्वास जगा सकता है और क्या कोई किसी का नल और किसी की लैला हूँ ढ ला सकता है ? मरे-मन को विश्वास की बात भर कही जा सकती है, विश्वास जगायगा वह आप ही ।

विश्वास जगाये बगैर तुम बेकार हो, उसे जगाओगे भी तुम अपने-आप । तुम अपने को और तुम्हारे मित्र तुम को भले ही भोदू समझते रहे, पर यह हम बताए देते है कि तुम्हारे भोदूपन में तुम्हारे ज्ञान की कमी कारण नहीं है, वह तो तुममें बहुत है । पर कारण है विश्वास, तुम्हारे विश्वास का सोया पडा रहना । नानक को उसके-माता-पिता, भाई-बन्धु, नाते-रिश्ते वाले पागल समझते रहे, पर उममें विश्वास जाग गया था और आज गुरुओं में शान के साथ बैठा है । ज्ञान चमकाओ और खूब चमकाओ, पर वह चमकेगा विश्वास के लेश-मात्र से । उसी को हूँ ढो, उसी के पीछे पडो, मरे-मन में जान पड़ेगी ।

२—डरे-मन : ऐसे लोग अपनी आत्म-शक्तियों को संगठित नहीं कर सकते । डर से वे तमाम विखर जाती है । हर काम में उन्हें शक होने लगता है । उदासी के वे शिकार हो जाते है । 'यह भी ठीक नहीं, वह भी ठीक नहीं' की आदत पड जाती है । यदि वे कुछ करते है तो औरों के जोर देने पर, उनका मन उस काम के करने में ज्यों-का-त्यों शंकित बना रहता है । उनके इस रोग की यदि कोई दवा है तो विश्वास । यह दवा इन पर जादू का असर रखती है । इनमें एकदम क्रान्ति पैदा कर देगी । डरे-मन सदा चिन्ता में डूबे रहते हैं । अपने पर उन्हें ज़रा भी भरोसा नहीं रह जाता । अपने को बहुत छोटा समझने लगते हैं । विचारों के लिहाज से वे कुएँ के मेढक बन जाते हैं । ताकतवर होते हुए भी अपने को कमजोर मानते हैं । किसी का ऐतबार करते डर लगने लगता है । बे-परवाही बेहद बढ जाती है । हरेक काम में ऐत्र देखने की आदत पड जाती है । खाते-पोंते, उठते-बैठते सशंक बने रहते हैं । इसका नतीजा यह होना है कि इनका अपनी जिन्दगी पर कोई अधिकार नहीं रह जाता । इनकी जीवन-नैया बेपतवार की होकर जिधर चाहे वह जाती है । इनमें श्रगर दम

आ सकता है तो केवल यह मानकर कि हम किसी काम के लिए पैदा हुए हैं। जो और कर सकते हैं उसको हम भी कर डालेंगे। जो-कुछ हमारे पास है, उससे बहुत कुछ हो सकता है। हमारी जिन्दगी बड़े काम की है। इसी का नाम सच्चा विश्वास है। यही इनमें दम डालेगा।

मन में अनेक भाव उठते हैं और असंख्य विचार। वे एक विश्वास यानी सच्चे विश्वास को छोड़कर सब-के-सब निराशा की कीचड़ में ढकेलने वाले होते हैं। याद रहे तुच्छता का वहम आत्मा को कमजोर करता है और उच्चता के वहम से भी आत्मबल बढ़ता नहीं, घटता ही है। 'मैं सब-कुछ हूँ' के पास न बैठना, उसकी सोहबत तुमको उतना ही नुकसान पहुँचायेगी, जितना 'मैं कुछ नहीं' की। विश्वास से ही तुम अपनी जिन्दगी पर धावा बोल सकते हो और उसी हथियार को देखकर जिन्दगी तुम्हारे सामने आत्म समर्पण कर सकती है।

निराशा की कीचड़ में तुम फँसे किसी भी तरह क्यों न हो, पर निकलने का एक ही उपाय है—विश्वास। अगर तुम में नेकी की ज़रा भी कोर बाक़ी है, अगर तुम में आवाज़ निकालने का तनिक भी दम है तो तुम विश्वास को अपना ही लोगे। इसको अपनाये बिना चारा ही क्या है ?

३ थके-मन—एक धर्म के विश्वासी में हर किस्म की ताकत जागी हुई होती है। बरदाश्त बेहद होती है, हिम्मत का बस पुतला हाँता है। आदतों की बेल को जड़ से उखाड़ फेंकने की ओर उसकी निगाह रहती है। बैसा कर डालने की उसमें योग्यता भी होती है। थके-मन में यह सब ताकतें थककर बैठ गई होती हैं। देह की थकान दूर होती है खुराक और आराम से, मन की थकान दूर होती है विश्वास से। थके-मन किसी भी धर्म पर ईमान ले आये तो तर जायगा। धर्म के विश्वास में एक ऐव भी रहता है, वह सुरार्द की ओर भी झुक सकता है। जैसे मूर्ति-पूजा, नरमेघ यज्ञ और धर्म-युद्ध की ओर झुक सकता है। यहाँ धर्म-युद्ध से मतलब है अन्य धर्मियों में लड़ना। अन्य-धर्मियों से अन्य-धर्मों के नाते लड़ना सुरार्द है। धार्मिक विश्वास की जड़ में कट्टरता रहती है। इसलिए कट्टरता का अन्त करना

उसका धर्म बन जाता है और सैकड़ों भूटे रिवाज उसका कर्तव्य बन जाते हैं। असल में धार्मिक विश्वास को अपनाकर यानी जन्म से पाकर आदमी बुद्धि से काम लेना छोड़ देता है। नीति को एक ओर रख देता है और केवल विश्वास के बल पर अपनी ताकतों से काम लेना शुरू कर देता है। विश्वास कैसा भी क्यों न हो, ताकतों को जगाता और काम में लगाता है। ताकतें टा भी सकती हैं और बना भी सकती हैं। अन्ध-विश्वासी दाने में भी लगाये जा सकते हैं और बनाने में भी। पर सच्चे विश्वासी सदा बनाने में ही लगते हैं। ढाते वे भी हैं, पर उसे बुरा नहीं कहा जा सकता क्योंकि वे बनाने के लिए ही ढाते हैं। टर्जों के कपड़े फाड़ने और बजाज के कपड़े फाड़ने को एक नाम नहीं दिया जा सकता। जानना तो सिर्फ इतना ही है कि सच्चा विश्वास हमेशा ताकतों को ठीक काम में लगाने के लिए आजाद छोड़ देता है। थकी ताकतों में दम आ जाता है और विश्वास के रहते वह कभी नहीं थकती।

भीतर की ताकतों की थकान है क्या चीज ? ताकतें थकती-थकती नहीं। यह तो आलंकारिक भाषा है। असल में जान में घमण्ड जागने का नाम ही है निष्क्रमापन। ज्ञान घमण्डों हुआ और उसने परीक्षण करने छोड़े। मन को नपुंसक कहा जाता है। वह सोचता ही सोचता है, करता नहीं। घमण्डों ज्ञान नपुंसक हो जाता है। वह जानेगा ही जानेगा, करेगा नहीं। जान में घमण्ड जागता क्यों है ? जान किसी से कम नहीं रहना चाहता। विश्वास को अपनाकर उसका नम्बर दूबरा हो जाता है। विश्वास का दरजा सब धर्मों ने ऊँचा माना है। ज्ञान को विश्वास की यह उच्चता नहीं सुहाती और इसलिए वह अपना नुकसान कर लेता है और जिन्दगी को मिट्टी बना देता है। सारे आदमियों का यही हाल है। विश्वास करने के लिए अपने से बड़ी चीज चाहिए। वह उन्हें मिलती नहीं। नहीं मिलती तो गढते हैं। यो तर्ह-तरह के देवता खड़े हो जाते हैं। एक को तो वे फायदा पहुँचा जाते हैं, पर आगे के समाज को वे फिर गढे में पटक देते हैं। हाँ, तो अब थंड पता चला गया कि विश्वास पैदा करने के लिए सिर्फ यह

संवाल हल करना है कि हम किस से दूसरे नम्बर पर खड़े हो ? जैनों और कुछ इने-गिनो को छोड़कर ईश्वर खुदा से दूसरे नम्बर पर खड़े होने में कोई अपनी शान में बढ़ा लगता नहीं मानता, पर उस ईश्वर में बिना समझे विश्वास लाने से काम न चलेगा । तुम्हारी ताकतें तो सच्चे-पक्के विश्वास से ही अपनी थकान उतारेगी और वह विश्वास तो वही होगा, जिसको तुमने अपने आप अपनाया है, जिसको तुम्हारे मन ने सिर झुकाया है और जिसको तुम्हारे ज्ञान ने गुरु माना है, फिर वह सातवें आसमान वाला हो, पत्थर का हो, हाड-मांस का हो, ख्याली हो, या जो भी हो ।

थकती देह नहीं थकता है मन । हम तोंगे में एक घण्टे में थक जाते हैं, रेल में बीस-पच्चीस घण्टे में थकते हैं, जहाज में हफ्ते-दो हफ्ते लग जाते हैं । हमारा मन कहता है कि हमको तपेदिक हो गया है । हम डाक्टर के पास जाते हैं । वह कहता है कि दिक् नहीं है । हम अच्छे हो जाते हैं । थके मन को विश्वास का डाक्टर ही अच्छा करेगा । जो यह कहता है— मैं नहीं पढ़ सकता, माता की भी यही राय है, भाई-बन्धु भी ऐसा ही मानते हैं, उस्ताद भी हार चुके हैं, उसको विश्वास का अध्यापक ही पढा सकेगा । और कोई नहीं ।

हे थके-मनो, तुमको जिन्दगी मिली है । ताकत का भरा बक्स मिला है । उसमें वहम का ताला न लगाओ और अगर लगा ही बैठे हो तो विश्वास की कुंजी से खोल लो । सारी ताकतें निकल पड़ेगी और जिस काम के लिए तुम्हारा जन्म हुआ है, वह काम भी हो जायगा ।

४ टकेमन—कुछ ऐसे भी हैं, जिनका मन निराशाओं से इतना ढक गया है कि उनको मन के होने में भी सन्देह होने लगता है । न अब कोई उनका दोस्त है और न रिश्तेदार । प्यार, मुहब्बत, मित्रता उनके लिए कितनी ही जरूरी क्यों न हो, उनमें दम नहीं डाल सकता, मन का पर्दा वे हटा नहीं सकते । हमारे घरों की शान सिर्फ प्रेम, प्यार से बनी हुई है, ऐसा समझना भूल है । प्रेम को भी आधार चाहिए । निराधार प्रेम घर की शान को कायम नहीं रख सकता । क्यों, फकीर की एक बुद्धिया के मर जाने पर

घर का हाल बेहाल हो जाता है ? क्यों सबका प्रेम बैर का रूप ले बैठता है ? बात साफ है । जिस पर सबको विश्वास था, वह चला बसी । उसी विश्वास के आधार पर तो प्रेम नये-नये नाच दिखाया करता था । सहारा निकलने से वह धर्म से गिर गया और खुश रहने वाला नाच खत्म हो गया । आपसी मेल-मिलाप की जड़ है ही विश्वास । सेवा-भक्ति तो विश्वास की दासियाँ हैं । प्यार-मुहब्बत उसी के नचाये नाचते हैं । यह सब विश्वास की ही लीला है ।

उदासी के किले को तोड़ने में आमतौर से प्रेम का हाथ पाया जाता है, पर बात वैसी है नहीं । स्फूर्ति के प्रकाश में भी उसका कोई भाग नहीं होता, पर माना जाता है । सफलता की जड़ में सदा रहने वाला विश्वास ही है, जो रोमांच, गठ-बन्धन, गृहस्थ-जीवन और दोस्ती को सफल बनाता है । कोई प्रेमी अपनी प्रेमिका को प्यार कर आनन्द नहीं पा सकता, अगर उसको उस पर विश्वास न हो । परमेश्वर प्रेम की नाव जो भवसागर से लोगों को पार उतार देती है, विश्वास धातु से बनी हुई है । उस सागर में उस धातु के सिवाय कोई चीज तरती नहीं । वाल्मीकि के राम जब सीता का प्रेमालिंगन करते थे तब दो देह नहीं मिलती थी, दो आत्माएँ भेट करती थी । और राम पर उस समय एक रौब छा जाता था, जो उस प्रेम को धर्म में बदल देता था । राम के मन ने कभी एक क्षण के लिए भी सीता पर अविश्वास नहीं किया । सीता-राम की प्रेम की घटनाओं को तराजू में तोलना, उन दोनों के साथ अन्याय करना है । सीता को सीता की राय में, राम पर राम से हजार गुना विश्वास था । राम को राम की राय में, सीता पर सीता से हजार गुना विश्वास था । अपने-अपने विश्वास की सीमा ही नहीं, वह नापा-तोला नहीं जा सकता ।

जिस पर मैं विश्वास करता हूँ वह मेरा पूरक होता है । उसके बिना मैं अधूरा । मैं समाज पर विश्वास कर 'मैं' नहीं रह जाता । 'हम' बन जाता हूँ । हिन्दुस्तानी भले ही अकेला घूमता हो, पर एक रूसी, अंग्रेज, और अमेरिका वासी सदा अपने साथ सारे रूस, बर्तानिया और अमेरिका

को लेकर घूमता है। वह समाज विश्वास के बल पर 'मैं' नहीं 'हम' बन गया है। गुरु गोविन्दसिंह का एक शिष्य यूँ ही तो सवा लाख की ताकत रखता माना जाता था।

विश्वास के बिना आदमी अकेला पड़ जाता है। अकेले में स्वार्थ फूलने फलने लगता है। स्वार्थी को छिपकर खाने-पीने और रहने सहने में ही सुख मिलने लगता है। सुख सामाजिक गुण है, यह अकेला रहकर अपने को मोगने वाले को काटने लगता है। यूँ स्वार्थी का सुख, दुःख बन जाता है और अलग-अलग रहकर उसकी दुनिया अलग हो जाती है। उसकी दुनिया भिँकुड़ने लगती है और दुनिया के सिकुड़ने से उसका मन, आत्मा भी सिकुड़ जाते हैं। उसके मन का परदा यूँ काला और भी काला होता जाता है। 'राम के विश्वासी के मन में राम आ विराजता है' सन्तो की यह कहावत ठीक ही है। राम को छोड़ो, तुम किसी जीवित आदमी पर विश्वास करके देखो। उसका बल तुम में आ जायगा, तुम अपने को कहीं बलवान जंचने लगोगे। अन्धविश्वासी पुलिस का सिपाही—जब अपने में सौ की ताकत अनुभव करने लगता है और सौ की भीड़ में घुस जाता है, तब सच्चा विश्वासी क्यों न सौ की ताकत अपने में अनुभव करने लगेगा और क्यों न हजार की भीड़ में ब्रेथडक घुस सकेगा? विश्वास के इस चमत्कार को मान लेने में टिक्कत कहाँ है?

मन को टक, प्रेम के भूखो, प्रेम का टूक मॉगते रहो, मिलना नहीं। तुमको न कोई प्यार करेगा, और न कोई दोस्त बनायेगा। विश्वास को जगाओ, उसे कहीं तो जमाओ, और फिर देखो, कितने प्यार करनेवाले मिलते हैं! दुनिया है और रहेगी, क्योंकि उसमें विश्वास करनेवाले हैं। राम भी रहेगा। दुखी न होओ, अलग-अलग न रहो। निकम्मे न बनो। विश्वासी बनकर सुखी बनो, समाज में चमको और अपनी ताकत का चमत्कार दिखाओ। विश्वास के बिना तुम्हारे दृके मन को कोई उपकार न उभार सकेगा।

५ बचाये मन—यह कल्लू या वह? दुविधा! इसका इलाज? सच्चा

विश्वास । तुम्हारा मन हिल रहा है । उसे चाहिए टेक—सहारा । उसका सहारा मत लेना, जिस पर तुम्हें विश्वास न हो । विश्वास खरे सोने की तरह आग में डाला जा सकता है, पर चमक नहीं खो सकता । विश्वास के बल पर सहारा किसी का भी लो, धोखा न होगा ।

इस मत-पन्थ की दुनिया में विश्वास की छीछालेदर से घबरात्रो नहीं । इस कीचड़ से उगो, उठो और कमल की तरह खिलो । गन्ध फैलाओ, लोगो को लुभाओ । विश्वास के बल पर यह सब कुछ हो सकेगा । मत-पन्थ छोटी चीज़ है, धर्म नहीं । सच्चाई और भलाई की प्यास को धर्म कहते हैं, उसके प्यासे को धर्मात्मा । महावीर, बुद्ध, ईसा, मुहम्मद इनका धर्म था, और वह एक था । वे सच्चाई और भलाई के प्यासे थे । उन्हें अपनी प्यास बुझाने में विश्वास था और वह बुझी भी । शुरू में उनके मन भी तुम्हारी तरह घबराये हुए थे और बे-सहारा थर-थर कोंपते थे; पर विश्वास ने उनका सन्तुलन कर दिया और उनको दृढ़ बना दिया ।

विश्वास का काम है मन का सन्तुलन । मन-सन्तुलन की यह अकेली ट्वा है । विश्वास डिगा और मन में कॅप-कॅपी पैदा हुई । हिलते-मन का नाम ही नास्तिक है, हिलता-मन और घबराया मन एक बात । घबराहट नरक नहीं तो और क्या है ? ऐसा नास्तिक नरक में पडता है । इस नरक से निकलना, यानी मन की घबराहट दूर करना कोरी बुद्धि का काम नहीं । उसकी मट्ट के लिए चाहिए विश्वास । वह पास नहीं तो बुद्धि घबराहट घटाने की जगह बढ़ायेगी ही ।

असल में घबराहट है क्या ? यही कि सच सच है या भ्रूठ सच ? भ्रूठ फल-फूल रहा है, यो सच लगता है । सब भले यह कहते हैं कि सच फल-फूल रहा है, इसमें सच सच है । अब किस को अपनाया जाय ? कोई माने या न माने, जब सबका विश्वास हो रहा है तब दुनिया भी आगे बढ़ रही है । संत कोई ऐसा काम नहीं कर सकते थे, जो दुनिया को बढ़ने से रोके । उनके काम से दुनिया आगे बढ़ी, रुकी नहीं और पीछे भी नहीं हटी । उन्होंने सच्चाई और भलाई को अपनाया । अब यह साफ है कि सच्चाई और

भलाई ही आगे बढ़ाने वाली चीज़ें हैं। हमें उन्हीं पर विश्वास कर दुविधा मिटानी चाहिए और घबराहट दूर करनी चाहिए।

सच्चा-विश्वास

दुनिया में रोगों का इलाज भाड़-फूँक बहुत पहले से है। दवाएँ तो बाद में आईं। दवाएँ ज्ञान की उपज मानी जाती हैं और भाड़-फूँक की बुनियाद अज्ञान है, ऐसी लोगों की मान्यता है। भाड़-फूँक आज भी है और खूब है, पर उसका नाम लोगों ने मेस्मरेज़म रख छोड़ा है। मेस्मर के नाम पर पडा नाम वैज्ञानिक दुनिया में कद्र की नज़र से देखा जाता है। कहने का मतलब यह कि आज भी रोगों का इलाज बिना दवा-दारु के सिर्फ मन के ज़रिये विश्वास पैदा कर किया जा रहा है। और बहुत अंशों में सफल भी हो रहा है। भाड़-फूँक आज भले ही अनपढ़ लोगों के हाथ में हो, पर उसके जन्मदाता ऋषि-मुनि थे और वह कितने ज्ञानी-विज्ञानी थे यह वेद, उपनिषद्, तत्त्वार्थ सूत्र, अञ्जाल, कुरान बता रहे हैं। इन बड़ी किताबों के लिखने वाले खुद बड़े विश्वासी थे और लोग उनपर पूरा-पूरा विश्वास करते थे। न बीमारों को दवा की ज़रूरत थी और न डाक्टर दवा रखते थे। विश्वास के आधार पर हड्डी-कट्टी देह लिये वे जंगल में शहर की तरह रहते थे और शहरों में जंगल का आनन्द हासिल कर लेते थे।

सच्चे विश्वास के जो चमत्कार अब तक बताये गए हैं उनको देखते हुए यह मानने में कोई कठिनाई नहीं होनी चाहिए कि हमको देह के स्वास्थ्य से कहीं ज़्यादा मन के स्वास्थ्य की ओर ध्यान देने की ज़रूरत है। स्वस्थ मन में ही सच्चा विश्वास जागता और फलता-फूलता है। जो निराशा-मन को आशा का आश्वासन दे, जो कुछ नहीं हो सकते वह सब-कुछ हो सकने में बटल दे, जो सोई ताकत को जगाकर काम में लगा दे, जो दम-धुत्ते मन के नाक-भुँह खोल दे, जो द्विलमिल यकीन के यकीन को सीधा खड़ाकर मुस्लैद् बना दे, और जो मरे-मन में फिर से जान फूँक दे वह विश्वास क्या जिस्म को बीमार रहने दे मरता है ? क्या तुमने इम्तहान का नतीजा सुनकर लोगों के बुखार उतरते नहीं सुने देखे ? क्या तुमने दिक्क के मरीजों के

गले फेफड़े सच्चे हकीम के एक फिकरे 'तुम्हें कोई मर्ज़ नहीं है' सुनकर अच्छे होते नहीं सुने देखे ? क्या अंधी माँओं को अपने वर्षों से खोए बेटे को फिर पाकर अपनी आँखों में फिर से रोशनी पाते नहीं सुना देखा ? अगर हाँ, तो फिर विश्वास पर शक करने की कहाँ जगह है ?

दवाएँ जिन्दा रहे, विश्वास उन्हें रोकता नहीं, और न उसकी मौत की माना फेरता है। वह ऐसे विचारों से परे है। दवाएँ पैदा होते ही हाथ धोकर उसके पीछे पड गई है और वे-मतलब उसकी दुश्मन बन बैठी हैं। इससे विश्वास का कुछ न बिगड़कर उनका ही सुकसान हुआ। अगर वे मिलकर काम करती तो आज कहीं-की कहीं पहुँच गई होती। दवाएँ विश्वास का मूल्य जानती है और खूब जानती है, पर डाह उस जानकारी को बाहर नहीं आने देता। दवाएँ यह नहीं जानती कि उनकी पहुँच देह से आगे नहीं है और आदमी केवल देह का बना हुआ नहीं है। इलाज के लिहाज से उसे केवल मन का बना हुआ तो कह भी सकते हैं, क्योंकि स्वस्थ मन फोड़े-फुन्सी और खुजली-चोट तक को ठीक कर लेता है; पर सिर्फ देह का बना हुआ नहीं कह सकते। मन की पहुँच सब जगह है—इससे दवाओं का इनकार नहीं होना चाहिए। दवाएँ विश्वास का नाटक खेलने के लिए अमीर बीमार के सामने सोने-चाँदी के जेवर और जवाहरात के गहने पहनकर आती है, पर नकल नकल ही है। दवाएँ असल को नहीं पहुँच सकती। नाटक न खेलकर उससे सहयोग की भीख माँगती, तो उन्हें मिल भी जाती और वे भिखारी बनकर भी राजा से कही अधिक आदर पाती। और मनुष्य समाज का, जिसके लिए उन्होंने अवतार लिया था, कहीं अधिक भला कर जाती।

बड़े-बड़े दवापति अब विश्वास का लोहा मान गये हैं और खुले कहने लगे हैं कि १०० में से ५० असाध्य मरीजों का मरज़ और १०० में से ७५ रोग से उठे कमजोरी की कमजोरी देह में न रहकर मन में रहती है और उनके इलाज दवा से न होकर, विश्वास की मदद से होने चाहिए। होड़ का युग गया, सहयोग का युग है। दवाओं, यदि तुम अपना भला चाहती हो तो मिलकर कार्य करो। अगर तुम हो तो विश्वास के बिना बेजान हो,

यदि तुम सागर हो तो उसके बिना बे-लहरो की हो, यदि तुम मकान हो तो उसके बिना बे-दीवार की हो । तुम जड़ हो क्या इसीलिए जड़ी चाहती हो ? जड़ का युग हो चुका । अब जड़-चेतन के सहयोग का युग है ।

समझदार बीमार-कभी खुद भी तय नहीं कर पाता कि बीमारी की जड़ है कहाँ ? मन में या देह में । कभी वह मन को और कभी तन को दोषी मानता है । तवीयत उंचाट है, मन अशान्त है, भजन-पूजन में जी नहीं लगता ? शायद मन खराब होगा । पर यह हालत तो गरदन की गले की गॉठ (Thyroid gland) खराब होने से भी हो सकती है । कुछ समझदार बीमार अपनी देह की बीमारी को मन के माथे थोपते हैं । मन खराब हो जाने से भी देह अस्वस्थ हो जाती है । डाक्टरों ने बड़ी जाँच के बाद यह साबित कर दिया है कि पेट का फोडा १०० में से ६० बीमारों के पेट में न होकर मन में शुरू होता है । गहरी चिन्ता आमतौर से उसका सबब होती है ।

कुछ आदमी ऐसे मिलेंगे जिनको गन्दी चीज देखकर उछाल आ जाता है । उछाल पहले मन को आया, पीछे पेट को । मन थक जाने पर ताजा देह भी थकान मानने लगती है । बहुत खुशी में और बहुत रज में भूख कम हो जाती है । आये-दिन की डाक्टरों की खोज यह बताती है कि बीमारियाँ सब-की-सब न भी हो, पर झ्यादा तो ऐसी होती हैं कि जिनमें देह का कोई कसर नहीं होता ।

एक अंग्रेज लेखक ने तो आजकल के विशेषज्ञों का खून मजाक उड़ाया है और वह बिलकुल ठीक कहता मालूम होता है, भला यह भी कोई बात है नाक के डाक्टर, कान के डाक्टर, दाँत के डाक्टर, आँख के डाक्टर और फिर आँगे अँगूठे के डाक्टर, बीच की उँगलियों के डाक्टर, कटी उँगली के डाक्टर और एक-एक थैली (Cell) के डाक्टर । यहाँ देह और मन के एक साथ इलाज की बात सोची जा रही है, वे देह के भी टुकड़े कर डाल रहे हैं ! दवाएँ उतरी थी मँदान में यह दावा लेकर कि बीमार के रोग को अच्छा कर हम समूचे आदमी को अच्छा बना देंगी, पर अब तो वे एक

अंग को अच्छा कर बीमारी दूसरी ओर डाल देती हैं। कुनेन बुखार खोकर चेहाल बनाएगी, अफीम का इनजेक्शन दर्द मिटाकर सारी देह को कमजोर करेगा। दवाएँ एक और नया नाटक खेल रही है। वे होम्योपैथी का जामा पहनकर डर के बुखार को, चोट के बुखार को और गुस्से के बुखार को भी मानने लगी है। और फिर वे बुखार का इलाज न कर डर, चोट और गुस्से का इलाज करती हैं। दवाएँ है, अधूरा है इनका विश्वास। जो १०० वर्ष जीना चाहे, जो सौ वर्ष तक अपने रूप-रंग सही हालत में रखना चाहे, वह अपने मन को इतना मजबूत बनाए कि मालिक बन बैठे डर का, फिक्र का, रंज का, गुस्से का, शर्म का, क्रुसूर का, घमंड का और सबसे ज्यादा काम का।

जीवन-राज्य का अधिपति कोई हो, प्रधान-मन्त्री विश्वास को बनाये बिना यह राज्य ठीक चलता नहीं। डाक्टर, मन्त्री की सलाह के बिना राज्य के कामों में सीधा दखल न दे। अब जब यह मान लिया गया है कि तपेटिक के कीड़े सभी में मौजूद हैं और यह कि वे अकेले ही दिक् की बीमारी पैदा नहीं करते, बल्कि मानसिक व्यथाएँ इनमें एक जरूरी कारण हुआ करती है, तब विश्वास और दवा के मिलकर काम करने में क्या दिक्कत हो सकती है और दवाओं को क्यों इन्कार हो सकता है? निमोनिया और दमे के बारे में भी मन का बहुत हाथ माना जाने लगा है! मतलब यह कि अब विश्वास को ऊँचा स्थान दिये बिना जीवन-राज्य का इन्तजाम ठीक न हो सकेगा।

विश्वास, वेशक सच्चा-विश्वास देह को स्वस्थ रखने के लिए जरूरी है और बिलकुल काफी है।

अन्ध-विश्वास

विश्वास बहुत बड़ी चीज है। इसकी पहुँच बहुत दूर तक है। आज-कल के छः बड़े-बड़े धर्म और अनेको छोटे-छोटे धर्म विश्वास के पेट में समा सकते हैं। धर्म और विश्वास हैं तो एक चीज, पर आजकल धर्म का जो मतलब किया जाता है उससे यही कहना पड़ता है कि हरेक धर्म एक विशेष-

विश्वास है और यह विशेष-विश्वास वाला धर्म पैदा होते ही हम सब के साथ लग लेता है। औरों की नजरों में हम उसी विशेष-विश्वास के विश्वासी माने जाते हैं; पर वैसा होता नहीं है। हमारा पैदायशी-विश्वास कुछ और, हमारा कमाया हुआ विश्वास कुछ और ही होता है। नतीजा यह कि हम अपने कामों से उसके विश्वास के विश्वासी नहीं जँचते, जिसको हम लोगों के सामने अपना होने का दावा करने के अभ्यस्त हो गये हैं। अपने को हिन्दू, जैन, बौद्ध, ईसाई, मुसलमान, सिख कह बैठना इतनी मामूली बात हो गई है जैसे कोई भी गोदड़-जैसा डग्गोक, अपना नाम होने की वजह से, अपने को बहादुर सिंह बता बैठता है। नाम की तरह से आज का धर्म भी कुछ अर्थ नहीं रखता। कोई अपने को मुसलमान कहकर यह हरगिज नहीं कहता कि वह सबको, खुदा के बन्दे होने के नाते, भाई समझता है और यह कि वह बड़ा अमन-पसन्द है। जैन कहकर कोई यह नहीं कहना चाहता कि उसने अपने मन को जीत लिया है और ईसाई कहकर तो शायद यही कहना चाहता है कि उसने प्रेम को कुचल डाला है और वह ईसाइयों तक को तलवार के घाट उतार सकता है ! फिर औरों की तो बात ही क्या ?

विशेष-विश्वास यानी धर्म बपौती में तो मिलता ही है, दोस्तों से उधार भी मँगा जा सकता है। और सबसे आसान तरीका यह है कि आप कह भी दीजिये कि हम अमुक धर्म के विश्वासी हैं और आप उस धर्म के हो गए। इस तरह पाये हुए विश्वास दुनियादारी में बड़े काम के साबित होते हैं, पर कभी-कभी तो वे निरा बोझ बन बैठते हैं और वह इतना भारी कि जिसके नीचे टब मरने का डर रहता है। हो सकता है कि किसी को क्रिस्मत से अच्छे रिश्तेदार मिल जावे और उसकी जिन्दगी कुछ सुखी हो जाय, पर धर्म तो आजकल सदा ही ऐसा मिलता है जो उसकी जान को कष्ट में डाल देता है, क्योंकि वह जिन्दगी के माने ही अजीब लगाता है। अच्छे-से-अच्छा और ऊँचे-से-ऊँचा धर्म भी हमारी जिन्दगी को निकम्मा और दुखी बना सकता है, क्योंकि हम जानदारों पर धर्मों का, लोगों का और विचारों का अक्षर पड़ता है और हम कुछ-के-कुछ हो जाते हैं। पर धर्म तो बेजान

किताबों में अछूता ही रह जाता है और जो जितना झ्याटा अछूता है उतना ही वह अपने को बड़ा जोरदार मानता है ।

सब धर्म कई-कई बच्चे वाले अंडे हैं और ऐसे अंडे जो फूटना नहीं चाहते । अंडों के अन्दर रहने वाला बच्चा बिना अंडा फोड़े न बाहर आ सकता है, न खुली हवा खा सकता है और न बड़ा होकर औरों की तरह अपना जीवन काम का बना सकता है । अंडा सिर्फ इसलिए होता है कि वह तोते को तोता और मैना को मैना बनने दे । उसके बाद उसे टूटना ही चाहिए, क्योंकि तोता और मैना का असली धर्म उसके अन्दर रहता है, जो उसे आगे चलकर राम-राम कहना या आदमी की तरह बोलना सिखाता है । एक धर्म में पैदा हुए सब आदमी एक काम नहीं करते, यानी एक धर्म का पालन नहीं करते; क्योंकि उनका एक विश्वास नहीं होता । एक विश्वास होना व्यक्तित्व की सुन्दरता को ही खो देना है । यह तो हरेक को अलग-अलग ही तय करना होगा कि वह कहाँ, क्यों, किसलिए पैदा हुआ है ? हम एक आदमी के साथ दस वर्ष रहकर बिना बदले नहीं रह पाते, फिर ज़िन्दगी के साथ सौ वर्ष रहकर कैसे नहीं बदलेंगे ? हमारी ज़िन्दगी तो उस दुनिया से घिरी हुई नहीं है, जिस दुनिया से हमारे उन बुजुर्गों की घिरी है, जिनकी किताब के आधार पर हमें किसी विशेष धर्म वाला होने का मौका मिला है । हम चाहे या न चाहे हम बदल रहे हैं । बदलना हमारी खासियत है । जीवन के बारे में यही और एक यही विश्वास अटल और अमर है कि हम बदल रहे हैं । हमारा मन और हमारी चारों ओर की दुनिया की सारी चीज़ें बदल रही हैं । शब्दों के अर्थ बदलते रहते हैं । फिर शब्दों से बनी धर्म-पुस्तकें न बदलें तो उन्हें कोई खोलकर भी न पढ़े । शादी हो जाने पर बहन पत्नी बन जाती है और वधू बन जाने पर वही पत्नी माँ बन जाती है । धर्म-ग्रन्थ भी खूब बदलते हैं ।

बदलना और बदले जाना दो अलग राग हैं: एक आज्ञाद, दूसरा गुलाम ! बदलने की गति बदले जाने से कही तेज़ होती है । विश्वास से बदले जाने पर अधिकार हो जाता है ।

विश्वास से विश्वास तक पहुँचा जाता है। वहाँ पहुँचते ही अन्ध-विश्वास हिल जाते हैं। हालत कुछ-की-कुछ हो जाती है, जिनको हम सच्चे विश्वास माने बैठे थे वे थोथे जँचने लगते हैं। यह अवसर खोना नहीं चाहिए। बार-बार ऐसे अवसर नहीं आया करते, कर्मयोग का अवसर आदमी को सच्चा आदमी बनाने को मिलता है और कभी-कभी ही मिलता है।

हर साल लाखों इस दुनिया से कूच करते हैं। वे दुनिया को और उसमें रहने वालों को छोड़ जाते हैं। क्या तुम भी इसी तरह कूच करना चाहते हो? विश्वास के बिना तो यही होता है। विश्वास असल में अन्ध-विश्वास के भोलेपन को समझ लेता है। अन्ध-विश्वास अपने भोलेपन के सच्चेपन से उन बातों को सिद्ध करने की तद्वीर सोचा करता है, जो उसके मन पर बचपन में जम गई है या जमा दी गई है। इस बात की सच्चाई की जाँच अपने मन को टटोलने से तो हो ही सकती है, पर किसी दर्शन के साथ-साथ उस दर्शन के कर्ता की जिन्दगी पढ़ने से भी हो सकती है। दर्शनकार की जीवनी ही न मिले तब मजबूरी। यो न दर्शन बढ़ रहा है, न दर्शनकार बढ़ रहे हैं। वह केवल मोटा होता जा रहा है और यो बेकार। विश्वास सिद्धान्त की चीज नहीं, वह हमारे रोज के कामों से जुड़ा हुआ है, हमारे मनोभावों के बाढ़ किये कामों में उसकी जड़ है और वह सदा हमारे मनोभावों पर अपना प्रभाव डालता रहता है।

दर्शन बुद्धि की देन-सा जँचता है। असल में वह, हमारा मन अन्दर किस तरह काम करता है, उसकी कहानी है। बौद्ध या जैन-दर्शन बुद्धिमानों ने लिखे हैं, बुद्ध और महावीर ने नहीं। वे दोनों तो उन दर्शनों में जी रहे थे, वे दर्शन थे। उन्हें देखकर ही वे दर्शन जितनी जल्दी और जितने जल्द समझ में आते थे, वे आज उतनी ही देर में और कहीं बुरी तरह सौ परिदृश्यों की मट्ट से गले में ही आकर रह जाते हैं। दर्शन मोटे होते रहे। परिदृश्यों और प्रकाशकों का पेट भी भरते रहे। पर जब उन्होंने किसी एक की या समाज के जीवन की बागडोर हाथ में ली तब मामला भयानक हो गया। इस भयानक काम को सच्चा-विश्वास ही गेक सपना है। कितना ही

होशियार कहानी-लेखक क्यों न हो, वह एक कहानी खड़ी नहीं कर सकता, अगर उसे एक पात्र ऐसा न मिले जिसने अपनी जिन्दगी एक विश्वास के साथ न बिताई हो। कालिदास के विश्वास की खुराक पाकर एक साधारण घटना शकुन्तला नाटक बन बैठती है। रामायण में जितना तुलसी का विश्वास चमकता है उतनी राम की कथा नहीं।

सच्चे विश्वास के न होने से या उसके ढिग जाने से बड़े बुरे नतीजे होते हैं। व्यक्ति की जिन्दगी तो मिट्टी में मिल जाती है। ऐसा क्यों होता है? इसके कारण आसानी से समझ में आ सकते हैं। विश्वास उठ जाने से हमारे वे सब अनुभव, जो विश्वास की हालत में हुए थे, बेकार हो जाते हैं। विश्वास से सम्बन्ध रखने वाला सारा क्षेत्र हमारे हाथों से निकल जाता है और वे शक्तियाँ भी बेकार हो जाती हैं, जो इसी की चलाई चलती थी। हमारे दैहिक अनुभव यानी जड़-सम्बन्धी अनुभव तो सजग हो जाते हैं, पर आध्यात्मिक अनुभव सब-के-सब सो जाते हैं और हमारे लिए तो बेकार हो ही जाते हैं। जिसकी वजह से आदमी सबसे श्रेष्ठ प्राणी समझा जाता है, वह चीजे अब उसकी दुनिया में कहीं ठीक ही नहीं बैठती।

जिन्दगी की तरफ से रुख बदलने से सब कुछ ही बदल जाता है। आदमी की कहानी, रुपये, ईंट या पोस्ट-कार्ड की कहानी जैसी बन जाती है। आदमी के अन्दर की सबसे अच्छी चीज का कहीं मेल ही नहीं बैठ पाता, आत्मा साथ देना भी चाहे तो नहीं दे सकता। जिन्दगी के दो टुकड़े हो जाते हैं और मन की क्या हालत होती है, उसे ठीक विश्वासी ही जानता है।

अविश्वासी समाज में जगह बनाने के लिए नीति की शरण लेता है। नीति धीरे-धीरे उसे पक्का जड़वादी बना देती है। जड़वादी होने पर भी बुद्धि के साथ साथ मनोभाव भी रह जाते हैं। अब मन दुविधा में पड़ जाता है। दुविधा है : क्या होना चाहिये? क्या है? आदमी को होना तो चाहिए 'देवता'; पर है वह 'पशु'। मानव-समाज कुटुम्ब की तरह होना

चाहिए, पर है वह साथियों का जत्था । जय होनी चाहिए, नीति की, पर हो रही है मशीन की । (विज्ञान में वह आदमी को मशीन ही, तो पाता है) उसकी समझ में जान नहीं है; पर वह खुद जानदार है । उसकी समझ में बुद्धि नहीं है, पर वह बुद्धिमान है । उसकी समझ में नीति नहीं है, पर वह नीतिमान है । बिना विश्वास के यह हालत होगी ही । अविश्वासी बनकर अपनी धुन में अगर तुम किसी से टकरा गए और उसने पूछा कि 'तुम कौन हो ?' तो जवाब यही देना होगा, 'मैं कौन हूँ ? यह तो मैं भी नहीं जानता ।'

विश्वास का चमत्कार

'मैं यह हूँ' की जानकारी का नाम ही विश्वास है । सब धर्मों, दर्शन-शास्त्रों की मंशा ही यही है कि 'मैं क्या हूँ' का हाल बताएँ । इस दृष्टि से ही दर्शन-शास्त्र दुनिया के अदब में अपनी जगह बनाते हैं । मन को स्वस्थ बनाए रखने में इसीलिए विश्वास अकसीर माना जाता है । विश्वास हमें परिचय करा देता है । विश्वासहीन ही नास्तिक नाम पाता है । नास्तिक अनन्त आकाश में बिखरे जड़ परमाणुओं की खोज में लगकर अपनी आत्मा को ठण्डा कर डालता है । वह इस ओर भी ध्यान नहीं देता कि इन परमाणुओं का ज्ञान किसकी मदद से हो रहा है । कोई आदमी अपने को पहचाने बिना अपनी जिन्दगी से पूरा लाभ नहीं उठा सकता और न वह उस फल को पूरा कर सकता है जिसके पूरा करने के लिए वह पैदा हुआ है ।

आत्माभिमान बनाए रखने के लिए आदमी न मालूम क्या-क्या करता है, और उसे करना भी चाहिए । यह बुरी बात तो है ही नहीं, जरूरी है । अगर किसी आदमी को अपने बारे में यह भी पता चले कि वह एक मामूली आत्मा है, तब भी उसके लिए ऊँचे विचारों में मस्त रहना जरूरी है । ऊँचे विचारों के बल पर ही तो वह अपने न-कुछ से बहुत-कुछ काम ले सकेगा । पत्थर में जिस तरह अच्छी, बुरी, मामूली, तीनों तरह की मूर्ति मौजूद रहती हैं और वह अच्छे, बुरे, मामूली कलाकारों के हाथों जाहिर होनी है, ठीक

इसी तरह हर आत्मा में अच्छे, बुरे, मामूली काम करने की काबलियत रहती है, पर वह अच्छे, बुरे, मामूली विश्वास में ही काम में आती है। जिससे जो कुछ हो जाता है उसको आत्मा ठीक बताकर अपनी तसल्ली करता है। उसकी जाँचने की कसौटी या तसजू वही होती है, जो परिस्थितियों ने उसे बनाकर देदी है। इसीलिए तो इस बात पर जोर दिया जा रहा कि विचारा हमेशा ऊँचे रखने चाहिए। ऊँचे विचारों से परिस्थितियों का असर अगर बिल्कुल नष्ट नहीं होता तो कम तो हो ही जाता है।

इच्छाएँ सब में हैं और सब उनको पूरा भी करना चाहते हैं। ऊँचे विचार वाले और नीचे विचार वाले में एक ही इच्छा के पूरा करने में अन्तर रहेगा। मान लो, दोनों में लड्डू खाने की इच्छा पैदा हुई। यह भी मान लो कि दोनों के पास पैसा नहीं है। ऐसी हालत में नीचे विचार वाला चोरी कर अपनी इच्छा पूरी करेगा और दूसरा मजदूरी कर या साधारण आदमी है तो भीख माँग कर। भीख माँगना चोरी से नीचे काम है या नहीं? इस बात पर दो राय हो सकती है, पर यह इस लेख का विषय न होने से छोड़ा जाता है। 'मैं कौन हूँ?' यह जानने की इच्छा भी इच्छा है और इसके जवाब भी अलग-अलग कई हो सकते हैं। हर जवाब में जवाब देने वाले के सारे दर्शन का निचोड़ रहेगा। वह जवाब ही विश्वास बनकर आगे की राह दिखाने में काम आएगा। आदमी के अल्लाह की शकल वाला बने होने में इतनी-सी सच्चाई है, जितनी कि खाक का पुतला होने में। आदमी पंचभूत का भी है और अजर-अमर आत्मा का भी। वह क्या नहीं है? परमात्मा और आत्मा भी। हम कहाँ तक ऊँचे जा सकते हैं, यह अभी तय नहीं हो पाया। आजकल ऊँचे जाने की हट नहीं। सच्चा फिर क्यों न विचार ऊँचे रखे और क्यों न अपनी इच्छाओं को उसी के मुताबिक पूरा किया करे?

अपने को तुच्छ मानकर ऊँचा जीवन बिताने में तुम टोटे में रहोगे। इस तरीके से तुम्हारी नाव किनारे न लग पायेगी, बीच में ही डगमगाकर खँवर में जा फँसेगी। धर्म या धर्मों में चाहे कितनी ही कमियाँ क्यों न हों, एक जबरदस्त गुण भी है और वह अकेला ही सब कमियों की ओर किसी की

नजर नहीं जाने देता। वह गुण है : यह आदमी अजर-अमर आत्मा है, मिट्टी का पुतला नहीं। मनुष्य खुदा का अंश है, हड्डी-चमड़े की मशीन नहीं। यह नहीं कि कुछ चीज मिलकर जिस्म बन गया और फिर उसमें मन का किल्ला फूट आया और फिर सारा साहस आने पर आदमी कहलाने लगा। धर्म आदमी की जड़ अनादि अनन्त में जमा देता है और उसे सदा के लिए सुरक्षित कर देता है। धर्म आदमी में परमात्मा होने का विश्वास करा देता है। सब बड़े-बड़े धर्मों के 'मैं क्या हूँ' के जवाब सुनकर तबियत फड़क उठती है। तभी तो बचपन से ज्ञान में लगे आदमी बड़ी जल्दी धर्म को स्वीकार करते हैं। मेरी राय में सब धर्मों का निचोड़ यही है कि विश्वास से आदमी बटला जा सकता है।

हम वही हैं जो अपने को माने हुए हैं। अवतार हमारी मान्यता को बदलकर हमें कुछ-का-कुछ बना देते हैं। जो विश्वास अवतार हम में पैदा करते हैं क्या वह हम अपने आप अपने में पैदा नहीं कर सकते ? क्यों नहीं कर सकते ? ज़रूर कर सकते हैं। कैसे ? दो तरीकों से; विवेक से और त्याग से। विश्वास के दो पहलू होने से ये दोनों एक ही हैं। कहने के लिए दो हैं। जीवन के तूफान में डगमगाता आदमी अगर अपने पॉव जमाना चाहता है, तो अॉखें खुली रखे और उन्हीं गुणों को अपनाये जो आदमी के अपनाये जाने लायक हैं। उन्हीं उद्देश्यों की ओर दौड़े जिन तक पहुँचकर उसकी आत्मा खुशी का भोजन पायेगी। अपना सबसे सच्चा, सबसे चलवान्, सबसे ज्ञानवान्, वही मिलेगा। आदमी को सम्पूर्ण बनाने के लिए विवेक के दिशे को लेकर भले-बुरे गुणों की तमोज करनी ही होगी। उनमें से एक को पकड़कर बैठना ही होगा। पकड़ते ही त्याग शुरू हो जायगा। सच को अपनाकर झूठ छोड़ना ही होगा। ऊँचा डंडा पकड़कर नीचे का छूट ही जायगा। चढ़ने का तरीका ही यही है। 'हाँ हूँ' का दूसरा पहलू 'नहीं हूँ' है ही।

विवेक और त्याग न अपने-आप कभी पैदा हुए, न होते हैं और न दोगे। वे स्वासियते अलग कहीं मिलती ही नहीं। ये तो विश्वास के पाने-वाले की शक्त में ही मिलती हैं। किसी में विश्वास किये बिना ये दोनों

तुम्हारे हाथ न लगेगी । विश्वास के बिना तुम ऐसे गिरोगे कि हजारो घोडो की ताकतवाला लोहे का घोडा भी तुम्हे न उठा सकेगा ।

मरते आये हो, मर रहे हो, मरते रहोगे, यह सिलसिला तो न रुकेगा ।
हाँ, कुत्तो की मौत मरना रुक सकता है और वह विश्वास से ।

मानना शुरू कर दो कि तुम हो, आजाद हो, जो और कर रहे है वह कर सकते हो, और ज़्यादा भी कर सकते हो ।



सच्चे सुख का सार

आश्रम (ब्रह्मचर्याश्रम—हस्तिनापुर) का सर्वेसर्वा होने पर भी, अनेक बन्धनों में जकड़े होने से मुझे अपनी जान से प्यारे ब्रह्मचारियों को वह सिखाना पड़ता था और सीखने देने पड़ता था, जिसे मैं जी से नहीं चाहता था। मेरे अध्यापकों में एक से ज्यादा ऐसे थे, जिन्हें मेरी तरह उसके सिखाने में दुःख होता था जिसे वे ठीक नहीं समझते थे। उस तकलीफ ने समाज-सेवा के सम्बन्ध में मेरे मन में एक जबरदस्त क्रान्ति पैदा कर दी और मुझे साफ-साफ दिखाई देने लगा कि समाज-सेवा और समाज-दासत्व दो अलग-अलग चीजें हैं। समाज-सेवा से समाज ऊँचा उठता है और समाज दासत्व से समाज पतन होता है। आत्म-विकास, आत्म-प्रकाश, मौलिकता और नवसर्जन से समाज-सेवा होती है। लीक-लीक चलने से समाज की दासता हो सकती है, सेवा नहीं! व्यक्ति के सुख में ही समाज का सुख है, समाज के सुख में व्यक्ति का सुख नहीं और समाज का भी नहीं। आज जिस सुख को सूर्य मानकर समाज सुखी हो रहा है, वह सुख नहीं, सुखाभास है, सुख की छाया है, झूठा सुख है। सुख क्या है? वह कैसे मिलेगा? समाज सुखी कैसे होगा? यह जान लेना ही समाज-सेवा है। इसलिए उसी पर कुछ कह-सुन लूँ और इस नाते लिखकर भी थोड़ी समाज-सेवा कर लूँ।

खेती-युग में दुख रहा तो रहा, मशीन-युग में क्यों? खाने के लिए डिस्क्रेट के कारखाने, पहनने के लिए कपड़े की मिलें, सैर-सपाटे के लिए

मोटर-रेलें, हवाई जहाज, बीमारी से बचने के लिए पिंटेड ट्वाएँ, बूढ़े से जवान बनने के लिए ग्लेड-चिकित्सा, कानों के लिए रेडियो, आँखों के लिए सिनेमा, नाक के लिए सस्ते सेट, जीभ के लिए चाकलेट, लाइमजूस, क्रीम, देह के लिए मुलायम गद्दे, यहाँ तक कि मन के लिए भी किसी बात का टोटा नहीं—गुदगुदाने वाली कहानियाँ, हँसाने वाले निबन्ध, अचरज में डालने वाली जासूसी कहानियाँ, रलाने वाले उपन्यास, उभारने वाली वक्तृताएँ, सभी-कुछ तो है ।

रुपया ?—

रुपये का क्या टोटा ! उन्तीस रुपये कुछ आने में एक लाख के रुपये वाले नोट तैयार हो जाते हैं और वे उन्तीस रुपये भी कागज़ के हो तो काम चल सकता है । सरकार बाजीगर की तरह घर-घर में अगर चाहे तो रुपये का ढेर लगा सकती है । बाजीगर की हाथ की सफाई से सरकार की सफाई कई गुनी बढ़ी-चढ़ी है ।

मतलब यह कि यह युग खपत से कहीं ज़्यादा पैदावार का युग है, सुख की बाढ़ का युग है, चीजों की भरमार का युग है, जी दुखाने का नहीं, आँसू बहाने का नहीं, रोने-चिल्लाने का नहीं ।

है ! फिर यह कौन रोता है ? क्यों रोता है ? कैसे रोता है ? रोने का नाटक तो नहीं करता ? अगर सचमुच रोता है तो बिस्कुट, कपड़े और रुपये की बाढ़ में डूबकर टम घुटने से ही रोता होगा ।

सुख मोटा होकर ही काम का हो सके, यह नहीं । यह बढिया भी होना चाहिए । हलवा गालियों के साथ मीठा नहीं लगता । मुफ्त में पाये ओवरकोट से जाड़ा नहीं जाता, बे-पैसे की सवारी में मज़ा नहीं आता । सुख का सुख भोगने की ताकत विदेशी राज्य ने रगड़ दी, विदेशी व्यापार ने पकड़ ली, विदेशी तालीम ने जकड़ दी, विदेशी वेश-भूषा से लजा गई और विदेशी बोली से मुरझा गई ।

खाने में लुत्फ बनाने के तरीकों पर निर्भर है, कपड़े की खूबसूरती उसके काट में है, आमदनी का सुख इसमें है कि वह कैसे कमाई गई है ।

पाँच बार खाकर, घंटे-घंटे के बाद कपडे बदल कर, कई कमरेवाले मकान मे रहकर सुख नहीं मिलता । सुख के लिए ऐसा काम चाहिए, जिसके द्वारा मैं यह बता सकूँ कि मैं क्या हूँ ? जिनके लिए काम करूँ, वे माँ बाप, वे सम्बन्धी भी चाहिएँ । मेरी मरजी की तालीम न मिली तो सब सुख बेकार, मेरी मरजी का समाज न मिला तो सब सुख भार ।

इस वाढ़-युग के मुकाबिले मे पहले युग का नाम आप सूखा-युग रख लीजिए; पर उस युग मे ये सब चीजे मिल जाती थी । आजकल कारखाने चीजे बनाने में जुटे है, सरकार परमाणु-बम बनाने मे । सुख उपजाने की किसी को फुरसत नहीं । चीजों की भरमार से और एटम-बम की दहाड से सुख की परछाईं देखने को मिलेगी, सुख नहीं ।

हलवाई की तबीयत मिठाई से ऊब जाती है यानी उसे सुख की जगह दुख देने लगती है । रेल का गार्ड रेल सवारी को आफ्तन समझता है । खपत से उपज कुछ कम हो तो सुख मिले । खपत की बराबर हो तो हरज नहीं; पर खपत से ज्यादा हो तो दुख ही होगा ।

डाक-वावू को यह पता नहीं कि उसके कितने बच्चे हैं; जहाज के कप्तान को यह पता नहीं कि उसके माँ बाप भी हैं और उसका विवाह भी हो गया है, जुलाहे को पता नहीं कि वह तरह-तरह के बेल-बूटे बना सकता है । सुख जिसका नाम है वह कहीं रह ही नहीं गया । खाओ-पहनो-ट्रौडो ! सुख से कोई सरोकार नहीं । फटफटिया की फट-फट, धुँआ-गाडी की भक-भक, हवाई जहाजों की खर-खर, मिलो की घर-घर ! बाहर चैन कहो ! पंखे की सर-सर, टाइपराइटर की क्लिक-क्लिक, स्टोव की शूँ-शूँ, रेडियो की रूँ-रूँ । घर मे आराम कहो ! छुन्ने होने चले थे, दुब्ने रह गए । सुख की खोज में गॉट का सुख भी गँवा बैठे । वह मिलेगा, इसमें शक है ।

सुख लोगों को आजकल कभी मिलता नहीं । इसलिए वे उमे भूल गये, अगर वह आये तो उसे पहचान भी नहीं सकते । भीतर का सुख और बाहर का सुख दोनों ही भूल गए ।

सुख उस हालत का नाम है, जिसमें हम आजाद हो, कोई हमें हमारी मरजी के खिलाफ न सताये, न भूखो मारे, न जाड़ा-गरमी सहने को कहे। इतना ही नहीं, हमारी मरजी के खिलाफ न हमें खिलाये, न पहनाए और न सैर कराए। सुख बीच की अवस्था में है, खींचतान में नहीं। मरजी से किये सब कामों में सुख है—बरफ में चलने में, आग में जलने में, डूबने और ऊबने में भी। बेजात की मेहनत में भी सुख नहीं। लगन और उद्देश्य बिना किसी काम में सुख नहीं। सुख एक हालत तो है, पर है वह तन-मन-मस्तक तीनों की। भूखो मरकर सुख न मिलेगा और पाषाण-हृदय होकर भी नहीं। पेट-भरी बकरी भेड़िये के पास बाँधने से दुबली हो जाती है तो राम-भजन करने वाला सन्त भी भूखा रहकर दुबला हो जायगा।

सुख की पहेली का एक ही हल है। धर्म से कमाए और मौज करे (धर्म-अर्थ-काम)। धर्म से कमाने का अर्थ है खपत के अनुसार पैदा करना। कमाने में मौज करने की योग्यता गँवा बैठना बुद्धिमानी नहीं है। इतना थकने से फायदा कि खा भी न सकूँ ? थककर भूखे सो जाओ ! पैसे से बेचनी तो देह भी नहीं चाहिए, पर यहाँ तो मन और मस्तक बिक रहे हैं। तन-मन और मस्तक सभी बिक गए तो सुख कौन भोगेगा ?

बिको मत, बिकना गुलामी है। गुलामी में सुख कहाँ ? दुःख में मीठा कड़वा हो जाता है। कपडा देह का भार हो जाता है। तमाशा काटने को दौड़ता है। सवारी खींचती नहीं, घसीटती-सी मालूम होती है।

बना-बनाया खाने में खाने-भर का मजा। बनाकर खाने में दो मजों— एक बनाने का दूसरा खाने का। मिलो में चीजे बनती है, तुम्हारे लिए नहीं बनती। घर में चीजे बनती है, वे तुम्हारे लिए बनती है। तुम्हारी रुचि का ध्यान रखकर बनाई जाती हैं। तुम्हारे स्वास्थ्य का भी ध्यान रखा जाता है। अपनी चीज अपने-आप बनी कुछ और ही होती है ? सभी तो बनी-बनाई काम में ला रहे हैं ?

लाने दो, वे पास खड़े सुख को पहचानते ही नहीं। अपनाएँ कैसे ? तुम पहचान गए हो, अपनाओ। उसके अपनाने से सोना, स्वास्थ्य, सुख

तीनो हाथ आयेंगे । सुख से सुख और उस सुख में और सुख मिलेगा । सुख तुम में से फूटकर निकलने लगेगा । धीरे-धीरे सब तुम्हारे रास्ते पर आ जायेंगे । उन्होंने अब तक सुख देखा ही नहीं, अब देखने को मिलेगा तो फिर क्यों न अपनायेंगे ?

श्रम में सुख है, मेहनत में मौज है । श्रम बिका सुख गया । मेहनत बिकी मौज गई । पैसा आया, वह न खाया जाता है, न पहना जाता है । चीजे मोल लेते फिरो, भागे-भागे फिरो—जमींदार के पास, बजाज के पास बनिये के पास, सिनेमाघरो में, स्कूलो में । लो, खराब चीजे और दो दुगुने दाम । कभी सस्ता रोता था बार-बार, आज अकरा रोता है हजार बार ।

सुख चाहते हो तो बडा न सही, छोटा-सा घर बनाओ । चरखा खरीदो, चाहे महंगा ही मिले । करघा लगाओ, चाहे घर की छोटी-सी कोठरी भी घिर जाय । जरूरी औजार खरीदो, चाहे एक दिन भूखा मरना पड़े । खेत जोतो-बोओ, चाहे खून-पसीना एक हो जाय । गाय, घोडा रखो, चाहे रात को नींद न ले सको ।

बिक्री की चीज न बनो । बिगड जाओगे । अगर बिकना ही है तो काम की उपज को बिको । सुख पाओगे ।

खाने भर के लिए पैदा करो । थोडा ज्यादा हो जाय तो उसके बदले में उन्ही चीजो को लो, जो सचमुच तुम्हारे लिए जरूरी है और जिन्हें तुम पैदा करना नहीं जानते ।

कमाना और बेचना, कमाना और गंवाना है । कमाना और खाना, कमाना और सुख पाना है ।

काम के लिए काम करने में सुख कहाँ ? अपनी के लिए और अपने लिए काम करने में सुख है । सुख की चीजें बनाने में सुख नहीं, अपने सुख की चीजें बनाने में सुख है । जब भी तुम पैसों से अपने को बेचते हो, अपनी भलमनसियत को भी साथ बेच देते हो । उसी के साथ सच्ची-भली जिन्दगी भी चली जाती है । मन और मस्तक सब बिक जाते हैं । तुम न

बिकोगे, ये सब भी न बिकेंगे। भलमनसी की बुनियादी जरूरतें यानी कुटिया, जमीन, चरखा, करघा, वगैरह बनी रहेगी तो तुम बने रहोगे और सुख भी पाते रहोगे। सुख भलो के पास ही रहता है, बुरो के पास नहीं। जो बुरो के पास है वह सुख नहीं है, सुख की छाया है।

गाड़ी में जुतकर बैल घास-दाना पा सकता है, कुछ मोटा भी हो सकता है, सुखी नहीं हो सकता। सुखी होने के लिए उसे घास-दाना जुटाना पड़ेगा, यानी निर्द्वन्द्व होकर जंगल में फिरकर घास खाना होगा। तुम पैसा कमाकर रोटी-कपडा जुटा लो, सुख-सन्तोष नहीं पा सकते। सुख-सन्तोष रोटी-कपडा कमाने से मिलेगा, पैसा कमाने से नहीं।

रोटी न कमाकर पैसा कमाने में एक और ऐब है। घर तीन-तेरह हो जाता है। घर जुटाने वाले माता-पिता और अविवाहित बच्चे अलग-अलग हो जाते हैं। बाप दफ्तर चल देता है और अगर माँ पढी-लिखी हुई तो वह स्कूल चल देती है। बालक घर में सनाथ होते हुए अनाथ हो जाते हैं। यह कोई घर है! वासना के नाते जोडा भ्रमेला है। वह वासना कुछ कुदरती तौर पर और कुछ दफ्तरों के बोझ से पिचपिचाकर ऐसी बेकार-सी रह गई है, जैसे बकरी के गले में लटकते हुए थन।

घर को घर बनाने के लिए उसे कमाई की संस्था बनाना होगा वह कोरी खपत की कोठरी न रहकर उपज का कारखाना बनेगी। आदमी मुँह से खाता है तो उसे हाथ से कमाना भी चाहिए। इसी तरह एक कुटुम्ब को एक आदमी बन जाना चाहिए। कोई खेत जोत-बो रहा है, कोई कात रहा है, कोई बुन रहा है, कोई खाना बना रहा है, कोई मकान चिन रहा है, कोई कुछ और कोई कुछ कर रहा है। इधर-उधर मारे-मारे फिरने से यह जीवन सच्चा सुख देने वाला होगा।

आज भी गाँव शहर से ज्यादा सुखी हैं। वे अपना दूध पैदा कर लेते हैं, मक्खन बना लेते हैं, रुई उगा लेते हैं, सब्जी बो लेते हैं, अनाज तैयार कर लेते हैं और सबसे बड़ी बात तो यह है कि घर को वीरान नहीं होने देते। शहर वाले ये सब चीजें पैसे से खरीदते हैं। घर-बार बॉटकर, गले में

शुलामी का तौक डाले, सुबह-सुबह खरगोश की चाल जाते हैं और शाम को बह्युए की चाल घिसटते-घिसटते घर आते हैं ।

वृक्ष का अपना कोई सुख नहीं होता । जड़ों का नीचे तक जाना, खुराक खींचने के लिए काफी मजबूत होना, पेड़ का डालियो और पत्तों के बोझ को मेंभाले रखने के लिए काफी मोटा होना, रस ऊपर ले जाने के लिए पूरा योग्य होना, डालों का मुलायम होना, पत्तों का हरा-भरा होना इत्यादि ही पेड़ का सुख है । ठीक इसी तरह समाज का अपना कोई सुख नहीं । वह समाज सुखी है—जिसके बच्चे, जवान, बूढ़े, औरत, मर्द सुखी है, भरे-बटन है, हँसते चेहरे है, ऊँची पेशानी है, खातिरदारी के नमूने है, समझदारी के पुतले हैं, आदमी की शक्ल में फरिश्ते है । ऐसी ही मनुष्यों की जिन्दगी के लिए देवता तरसते हैं ।

जिस्म बनाने के लिए खाना, कपडा और मकान चाहिए । जी हों, चाहिए; पर उन चीजों के जुटाने में अगर आपने देह को थका मारा तो वे मुख न देकर आपको काटेगे, खसोटेगे, रुला देगे । मेहनत से आप ये चीजें जुटाइये, पर ऐसी मेहनत से, जिसमें लगकर आपका जिस्म फूल उठे, आपका मन उमंग उठे, आपका जी लग सके, आपका दिमाग ताजगी पा सके, आपकी आत्मा चैन माने और जिस काम में आप अपने को दिखा रहे हो कि आप क्या है । जिस काम में आप का आत्म-विकास न हो, आपका आत्म-प्रकाश न हो, उसे कभी न करना । वह काम नहीं, बेगार है । बटले में ढेरो रुपये मिले तो भी न करना । असल में जी न लगने वाले कामों में लगाकर जी मर जाता है । मरे जी, मरी तबियत, सुख का आनन्द कैरो ले सकती हैं ?

दोस्तों, समाज को सुखी बनाने के लिए अपना वक्त जाया न करो । वह सुखी न होगा । वह मशीन है । वह जानदार नहीं है । वह तुम सब का मिलकर एक नाम है । तुम अपने को सुखी बनाओ, वह सुखी है ।

यह नहीं हो रहा ।

सैते बहुत खाने से सुख नहीं होता, भूखो मरने से भी सुख नहीं

मिलता, वैसे ही बहुत कमाने से सुख नहीं मिलता और न बिलकुल बेकार रहने से। जो बेहद कमा रहे है, वे बिलकुल सुखी नहीं। वे असल में कमा ही नहीं रहे, उनके लिए और कमा रहे हैं। और जो और कमा रहे हैं वे यो सुखी नहीं है कि वे अपने लिए नहीं कमा रहे। यों समाज में कोई सुखी नहीं है और इसी वजह से समाज में कहीं पहाड और कहीं खाई बन गई है। समतल भूमि नाम को नहीं रंही। समता में सुख है। समता का नाम ही समाज है। अगर समता का नाम समाज नहीं है तो उस समता को पैदा करने के लिए ही उसका जन्म होता है। समता होने तक समाज चैन नहीं लेता। चैन पा भी नहीं सकता।

खाना, कपडा, मकान, दुःख पाये बिना मिल सकते हैं ? जरूर मिल सकते हैं; बिलाशक मिल सकते हैं। और अगर नहीं मिल सकते तो सुख भी नहीं मिल सकता। फिर समाज का ढाँचा बेकार, उसका पैदा होना बेसूद, उसकी हस्ती निकम्मी। अगर आराम की निहायत जरूरी चीजे जुटाने में भी हमें अपने पर शक है, तो सुख हमारे पास न फटकेगा। फिर तो हम मोहताज से भी गये-जीते हैं। फिर बच्चे के माने—अनाथ। जवान के माने—दुकरखोर और बूढ़े के माने—जीते-जी-मुर्दा।

सॉस लेकर खून की खुराक हवा, हम हमेशा से खींचते आये हैं, खींच रहे हैं और खींचते रहेगे। फिर हाथ-पॉव हिलाने से जिस्म की खुराक रोटी, कपडा, मकान क्यो न पायेंगे ? हम पाते तो रहे है; पर पा नहीं रहे है। कोशिश करने से पा सकते हैं और पाते रहेगे। हवा हम खुद खींचते हैं, अनाज और कपास भी हम खुद उगायेंगे।

हमने अब तक धन ढूँढा, धन ही हाथ आया। अब सुख की खोज करेगे और उसे ढूँढ निकालेगे।

ज़र, ज़मीन, ज़बरदस्ती की मेहनत और ज़रा सख्त इन्तज़ामी से पैसा कमाया जा सकता है, तो चार बीघे ज़मीन से, चार घड़ी सुबह-शाम जुट जाने से, चरखे जैसी मशीनो के बल से और चतुराई की चौटनी जितनी चिनगारी से, चैन और सुख भी पाया जा सकता है।

नये युग में नये अर्थ-शास्त्र से काम चलेगा, पुराने से नहीं ।

चार बीघे जमीन का दूसरा नाम है घर-बार । घर वह जिसमें हम रहते हैं । घर-बार वह जिसमें हम सुख से रहते हैं, यानी उसमें हम कमा-खा भी लेते हैं ।

आदमी भूचर, थलचर प्राणी है । वह हवा में भले ही उड़ ले और सागर में भले ही तैर ले, पर जीता जमीन से है और मरकर उसी में मिल जाता है । वह जमीन से ही जियेगा और यह ही उसका जीने का तरीका ठीक माना जायगा । जमीन उसे जो चाहे करने देगी और जी चाहे जैसा रहने देगी । उसे हर तरह आजाद कर देगी । वह जमीन से हटकर जबर से जेर हो जायगा । आजादी खोकर गुलामी बुला लेगा । आजादी के साथ सुख का अन्त हो जायगा । दुःख आ जुटेगा और वह देवता से कोरा दुपाया रह जायगा ।

जब हमारे पास जमीन थी हम सुखी थे और हमने वेद रच डाले । दशरथ और जनक हल चलाते थे, कौरव और पाण्डव खेत जोतते-बोते थे । वे आज भी जीवित हैं और हमें पाठ दे रहे हैं । सुख जमीन में है और वही से मिलेगा ।

जिस दिन तुमने जमीन लेकर फावड़ा उठाया, उसी दिन तुम्हारा सुख तुम्हारे सामने हरी-हरी खेती बनकर लहराया । और जिस दिन उसी खेती से लगी अपनी छोटी-सी कुटिया में बैठकर चरखा चलाते-चलाते तुमने वेद से भी ऊँची ज्ञान की तान छेड़ी कि सुख अप्सरा का रूप रख तुम्हारे सामने नाचने लगेगा । फिर किस सेठ की मजाल है जो तुम से आकर कहे कि आओ, मेरी मिल में काम करना या मेरी मिल में मैनेजर बनना । कौन राजनेता तुमको सिपाही बनाने या वज्जारत की कुर्सी पर बिठाने की सोचेगा ? और कौन सेनापति तुमको फौज में भर्ती होने के लिए ललकारेगा ? ये सब तो तुम्हारे सामने दुजानू हो (टगडवत कर) सुख की भीख माँगेंगे । मच्चा गायक हुक्म पाकर राग नहीं छेड़ता, सच्चा चित्रकार रूप्यों की खातिर चित्र नहीं बनाता । गायक गाता है—अपनी लहर में आकर । चित्रकार चित्र

बनाता है—अपनी मौज में आकर । ठीक इसी तरह तुम भी करो, जो तुम्हारा जी चाहे, जिसमें तुम खिल-उठो, जिसमें तुम कुछ पैदा कर दिखाओ, जिसमें तुम कुछ बनाकर दे जाओ । ऐसा करने पर सुख तुम्हारे सामने हाथ बँधे खड़ा रहेगा ।

आजकल 'मेहनत बचाओ', 'वक्त बचाओ' की आवाज चारों ओर से आ रही है । मेहनत बचाने वाली और वक्त बचाने वाली मशीनें आये-दिन गढ़ी जा रही हैं । परम पवित्र श्रम को कुत्ते की तरह दुर्दराया जा रहा है । समय जिसकी हद नहीं, उसके कम हो जाने का भूत सवार है । एक ओर समय के निस्सीम होने पर व्याख्यान दिया जा रहा है और दूसरी ओर गाड़ी छूट जाने के डर से व्याख्यान अधूरा छोड़कर भागा जा रहा है ! यह क्या ! एक ओर श्रम की महत्ता पर बड़े-बड़े भाषण हो रहे हैं । दूसरी ओर उसी से बचकर भागने की तरकीबें सोची जा रही हैं । खूब ! काम के बारे में लोगो का कहना है, "काम करना पड़ता है, करना चाहिए नहीं ।" उन्हीं का खेल के बारे में कथन है, "खेलने को जी तो चाहता है, पर वक्त ही नहीं मिलता ।" इन विचारों में लोगो का क्या दोष ? समाज का दोष है । हर एक से वह काम लिया जा रहा है, जिसे वह करना नहीं चाहता । और वह भी इतना लिया जाता है कि उसे काम से नफरत हो जाती है । उसको सचमुच खेल में सुख मिलता-सा मालूम होता है ।

काम में खेल की अपेक्षा हजार गुना सुख है, पर उस सुख को तो समाज ने मिलो को भेंट चढ़ा दिया ! आदमी को मशीन बना दिया ! मशीन सुख कैसे भोगे ।

माली को, किसान को, कुम्हार को, चमार को, जुलाहे को, दरजी को, बढई को, मूर्तिकार को, चित्रकार को, उनकी प्यारी-प्यारी पत्नियों रोज़ खाना खाने के लिए खुशामद करती देखी जाती है । वे काम से हटाये नहीं हटते । कभी-कभी तो इतने तल्लीन पाये जाते हैं कि वे सच्चे जी से अपनी पत्नियों से कह बैठते हैं, "क्या सचमुच हमने अभी खाना नहीं खाया ?" यह सुन उनकी सहधर्मिणिया मुस्करा देती हैं और उनके हाथ से काम के औजार लेकर

उन्हे प्यार से खाना खिलाने ले जाती हैं। सुख यहाँ है। यह सुख दफ्तर के बाबू को कहाँ! मिल के मालिक को कहाँ! सिपाही को कहाँ! उनकी बीवियों तो बाट जोहते-जोहते थक जाती है। एक रोज़ नहीं, रोज़ यही होता है। मुहब्बत इस बेहद इन्तज़ार की रगड़ से गरमा जाती है और आग की चिनगारियों उगलने लगती है। इसका दोष बीवी को न लगाकर समाज को ही लगाना चाहिए। कुम्हारिन, चमारिन वगैरह अपनी आँखों अपने पतियों को कुछ पैदा करते देखती हैं, कुछ बनाते देखती है, कुछ उगलते देखती है; कुछ उमंगते देखती है, कुछ आनन्द पाते देखती हैं। पर सेठों की औरते इन्तज़ार में सिर्फ घड़ियाँ गिनती है और अगर देखती हैं तो यह देखती हैं कि उनके पति घिसटते-घिसटते चले आ रहे है, या पॉव के पहिये खुदकाते आ रहे हैं, या मोटर में बैठ ओघते आ रहे हैं। वे उनकी दया के पात्र रह जाते है, मुहब्बत के नहीं। कुम्हार का चेहरा काम के बाद चमकेगा, वज़ीर का मुरभायेगा। कुम्हार के जी में होगी कि थोड़ी देर और काम करता, वज़ीर के जी में होगी कि ज़रा जल्दी ही छुट्टी मिल जाती तो अच्छा होता। जो अन्दर होता है वही बाहर चमकना है। जो चमकता है उसी हिसाब से स्वागत मिलता है।

जिसे काम में सुख नहीं, वही उसे खेल में डूँड़ेगा। वहाँ वह उसको मिल भी जायगा। उसके लिए तो काम से बचना ही सुख है। वह काम में तो किसी तरह से बच जाता है पर काम की चिन्ता से नहीं बच पाता। खेल में भी जी से नहीं लग पाता। वहाँ से भी सुख के लिहाज़ से खाली हाथ ही लौटता है।

‘काम के घण्टे कम करो’—यह शोर मच रहा है— और यह प्रलय के दिन तक मचता रहेगा। काम आठ घण्टे की बजाय आध घण्टे का भी कर दिया जाय तब भी सुख न मिलेगा। ऊपर-नीचे हाथ किये जाने में आध घण्टे में ही तबीयत ऊब जायगी। पाँच मिनट की भी मशीन बनने में सुब्य नहीं। एक मिनट की गुलामी दिन-भर का खून चूस लेती है। काम के घण्टे कम करने से काम न चलेगा। काम को बदलना होगा। काम अभी

तक साधन बना हुआ है। उसे साधन और साध्य दोनों बनाना होगा।

चार मील सर पर दूध रखकर बाजार पहुँच, हलवाई को बेच और बदले में रबड़ी खाने में वह सुख नहीं है, जो घर पर उसी दूध की रबड़ी बनाकर खाने में है। साधन को साध्य में बदलने से ही सुख मिल सकेगा और वही सच्चा सुख होगा।

बिना सोचे-समझे पहिया घुमाए जाना, हथौड़ा चलाए जाना, तार काटे जाना, कागज उठाए जाना, उजड़ूपन या पागलपन के काम हैं। इनको मिल-मालिक भला और समझदारी का काम बताते हैं। नाज, तंकारा और फल उगाने के शानदार काम को बे-अक्ली और नासमझी का बताते हैं। खूब। किया उन्होंने दोनों में से एक नहीं।

पेट भरने के लिए मेहनत की जाती है। यह सच है, पर इसमें एक-चौथाई सच्चाई है, तीन चौथाई सच्चाई इसमें है कि हम मेहनत इसलिए करते हैं कि हम जीते रहे, आनन्द के साथ जिन्दगी बिता सकें और गुलामी का गलीज धक्का अपनी जिन्दगी की चादर पर न लगने दें। हम पेट भरने के लिए हलवा बनाये, यह ठीक है, पर हम ही उसको खाये-खिलाये, यह सवा ठीक है, और हम ही उसके बनाने का आनन्द लें, यह डेढ़ ठीक है। मेहनत हमारी, उपज हमारी, तजुर्ना हमारा, तब सच्चा सुख भी हमारा।

जानवर रस्सी से बँधता है यानी जगह से बँधता है। शेर भी मॉद में रहकर जगह से बँधता है और आदमी ? वह घर में रहकर जगह से बँधता है। दस बजे दफ्तर जाकर वक्त से बँधता है। वाह रे प्राणी-श्रेष्ठ ! चिड़िया फुदकती फिरती है और खाती फिरती है। उसे ६-१०-११ बजने से कोई सरोकार नहीं। आदमी के अद्धे, पौबे बजते हैं, मिनटों का हिसाब रखा जाता है। सिकण्डों की कीमत अँकी जाती है और यह कहा जाता है कि उसने जगह (Space) और वक्त (Time) दोनों पर काबू पा लिया है। हमें तो ऐसा जँचता है कि वह दोनों के काबू में आ गया है।

और लीजिए। हमें बाप-दादों की इज्जत रखनी और नाती-पोतों के लिए धन छोड़ जाना है, यानी स्वर्गावासियों को सुख पहुँचाना है और उनको

जिन्होंने अभी जन्म भी नहीं लिया ! तब हम बीचवालों को सुख कैसे मिल सकता है ?

अगले-पिछलों को भूल जाना, जानवर बनना नहीं है—सच्चा आदमी बनना है। हमारे सुखी रहने से हमारे पिछले सुखी और हमारे अगले सुखी। सुखी ही सुखी सन्तान छोड़ जाते हैं और सुखी देखकर ही स्वर्गीय सुखी होते हैं। वेमतलव की मेहनत में समय खर्च करना गुनाह है। वक्त पूँजी है। उसे काम में खर्च करना चाहिए और ऐसे काम में जो अपने काम का हो।

सुख भोगने की ताकत को जाया करनेवाले कामों में लगाकर जो वक्त जाता है, उस कमी को न गाना पूरा कर सकता है, न बजाना, न खेल, न तमाशा, न कोई और चीज।

कपडा खत्म कर धब्बा छुड़ाना, धब्बा छुड़ाना नहीं कहलाता; ठीक इसी तरह आदमी को निकालकर वक्त बचाना, वक्त बचाना नहीं हो सकता। मिले यही कर रही है। सौ आदमी की जगह दस और दम की जगह एक से काम लेकर निन्यानवे को ब्रेकार कर रही है। काम में लगे एक को भी सुख से वंचित कर रही है। यो सौ-के-सौ का सुख हड़प करती जा रही है।

मिल और मशीन एक चीज नहीं। मिल आदमी के सुख को खाती है और मशीन आदमी को सुख पहुँचाती है। मशीन सुख से जनमी है, मिल शराब से। चर्खा मशीन है, कोल्हू मशीन है, चाक मशीन है, सीने की मशीन मशीन है। मशीने घर को आबाद करती हैं, मिलें बरबाद करती हैं। मशीन कुछ सिखाती है, मिल कुछ भुलाती है। मशीन सेवा करती है, मिल सेवा लेती है। मशीन पैदा करती है, मिल पैदा करवाती है। मशीन समाज का ढाँचा बनाती है, मिल उसी को ढाती है। मशीन चरित्र बनाती है, मिल उसी को धूल में मिलाती है। मशीन गायी है, मिल चिल्लायी है। मशीन धर्मपत्नी की तरह घर में आकर बसती है, मिलें वेश्या की तरह अपने घर में दुलाती हैं और खून चूसकर निकाल बाहर करती हैं। मशीन

चलाने में मन हिलोरे लेता है, मिल में काम करने में मन चकराने लगता है, जी धबराने लगता है। मशीने पुरानी है। हमसे हिल-मिल गई हैं। मिले नहीं हैं और कर्कश स्वभाव की है। मशीनें हमारे कहने में रहती है, मिले हमारी एक नहीं सुनतीं। मतलब यह कि मशीन और मिल का कोई मुकाबला नहीं। एक देवी तो दूसरी राक्षसी है।

मशीनो की पैदावार का ठीक-ठीक बटवारा होता है। मिलो का न होता है और न हो सकता है। और अगर मार-पीटकर ठीक कर दिया जाय तो तरह-तरह की दुर्गन्ध फैलेगी, बेकारी फैलेगी, बटकारी फैलेगी, बीमारी फैलेगी और न जाने क्या-क्या होगा !

मशीन पर लगाया हुआ पैसा घी-दूध में बदल जाता है, मिलो पर लगाया हुआ पैसा लाठी, तलवार, बन्दूक, बन जाता है।

एक का सुख जिसमें है, सबका सुख उसमें है। एक को भुलाकर सब के सुख की सोचना सब के दुःख की सोचना है। मिले सैकड़ों का जी दुखाकर शायद ही किसी एक को भूठा सुख दे सकती हो। भूठा सुख यो कि वे मुफ्त का रुपया देती है और काफी से ज्यादा धन से उबा देती हैं। ऊबने में सुख कहाँ ?

ऊपर बताये तरीको से सुख मिलता है, पर उस सुख को बुद्धि के जरिये बहुत बढ़ाया जा सकता है। ज्ञान बाहरी आराम को अन्दर ले जाकर कोने-कोने में पहुँचा देता है। अनुभव, विद्या, हिम्मत वगैरह से ज्ञान कुछ ऊँची चीज है। वही अपनी चीज है। और चीजे उससे बहुत नीची हैं। ज्ञानी आत्म-सुख खोकर जिस्मानी आराम नहीं चाहेगा। भेड़िये की तरह कुत्ते के पट्टे पर उसकी नज़रे फौरन पहुँचती है। उसको यह पता रहता है कि आदमी को कहाँ, किस तरह, किस रास्ते पहुँचना है। जो यह नहीं जानता वह आदमियत को नहीं जानता और फिर वह आदमी कैसा ! समझ में नहीं आता, दुनिया धन कमाने में धीरज खोकर अपने को धी-मान कैसे माने हुए है ! वह धन की धुन में पागल बनी हुई है और उसी पागलपन का नाम उसने बुद्धिमानी रख छोड़ा है। खूब ! उसने सारे सन्त-महन्तो को

महलो में ला बिठाया है, गंदी गलियों में मन्दिर बनाकर न जाने वे उनको क्या सिद्ध करना चाहते हैं ! ज्ञान से दुनिया इतनी दूर हट गई है कि उसके हमेशा साथ रहनेवाला सुख उसकी पहचान में नहीं आता । सुख का रूप बनाये असन्तोष उसे लुभाये फिरता है और धुमाये फिरता है । हिरन की तरह लू की लपटों को पानी मानकर दुनिया उसके पीछे-पीछे दौड़ती चली जा रही है । तुम बुद्धिमानी के साथ सुख कमाने में लगे । उसे असन्तोष के पीछे दौड़ने न दो ।

कितना ही मूर्ख क्यों न हो, 'क्यों' और 'कैसे' को अपनाने से बुद्धिमान बन सकता है । अनुभव से बड़ी पाठशाला और कौन हो सकती है ? हाँ, दुनिया की लीक छोड़कर अपने रास्ते थोड़ी देर भटककर ही सीधा रास्ता मिलेगा । ध्यान रहे, आदमी को लीक-लीक चलने में कर्म-से-कर्म बुद्धि लगानी पड़ती है, पर वह लीक सुखपुरी को नहीं जाती । वह लीक असन्तोष नगर को जाती है । उस ओर जाने की उसे पीढ़ियों से आदत पड़ी है । दूसरे रास्ते में ज्यादा-से-ज्यादा बुद्धि लगानी पड़ती है, ज्यादा-से-ज्यादा जोर लगाना पड़ता है, वह कोई बनी हुई पगडंडी नहीं है । हर एक को अपनी बनानी पड़ती है । हाँ, उस रास्ते चलकर जल्दी ही ज्ञान-नगर देखने लगता है और फिर हिम्मत बँध जाती है । कम ही लोग आदत छोड़ उस रास्ते पर पड़ते हैं, पर पड़ते जरूर हैं । जो पड़ते हैं, वे ही ज्ञान-नगर पहुँचते हैं और उसके चिर-साथी सुख को पाते हैं ।

सुख चाहते सब हैं । बहुत पा भी जाते हैं; पर थोड़े ही उसे भोग पाते हैं । सुख ज्ञान के बिना भोगा नहीं जा सकता । असन्तोष नगर की ओर जो बहुत बढ़ चुके हैं वे सुनकर भी नहीं सुनते और जानकर भी नहीं जानते । उन्हें भेद भी कैसे बताया जाय, क्योंकि वे भेद जानने की इच्छा ही नहीं रखते । भगवान् बुद्ध पर उसका राजा बाप तरस खा सकता था, पॉप छू सकता था, बंदिया माल खिला सकता था, पर भेद पूछने की उसे कब शक्त सफ़्त थी । सेठ को स्वप्न भी आएगा तो यह आएगा कि असुक साधु बिना कुटी का है उसकी कुटी बना दी जाय । उसे स्वप्न यह नहीं आ

सकता कि वह साधु सुख का भेद जानता है और वह भेद उससे पूछा जाय।

शानी कहलाने वाले लोग बाजार की चीज बने हुए है। अखबार उठाओ और जी चाहे जितना मँगा लो। जो बाजार की चीज बनता है, वह शानी नहीं है। वह क्या है, यह पूछना बेकार है और बताना भी बेकार है।

पैदा हुए, बड़े, समझ आई, दुःख-सुख भोगा, बच्चे पैदा किये, बूढ़े हुए और मर गए। यह है जिन्दगी। एक के लिए और सबके लिए। इसमें सुख कहाँ? सुखी वह है, जिसने यह समझ लिया कि कैसे जीये? क्यों जीये? पर यह कौन सोचता है और किसे ठीक जवाब मिलता है? मुसलमान के लिए यह बात 'कुरानशरीफ़' सोच देता है और हिन्दू के लिए 'वेद' भगवान्। फिर लोग क्यों सोचे? कभी कोई सोचने वाला पैदा हो जाता है, पर उसका सोचा उसके काम का। तुम्हारे किस काम का? वह तुमको सोचने की कहता है। तुम उसका सोचा अपने ऊपर थोप लेते हो। थोपने से तुम्हारा अपना ज्ञान छुप जाता है। सोचने की ताकत जाती रहती है। इस तरह दुनिया वही-क्री-वही बनी रहती है। पुजारी पूजा करता रहता है, सिपाही लडता रहता है, सेठ पैसा कमाता रहता है, नाई-धोबी सेवा करता रहता है। सोचने का रास्ता बन्द हो जाता है, रूढ़ि रोग रुके-का-रुका रह जाता है। रूढ़ि रोग से अच्छा होना चमत्कार ही समझना चाहिए। रूढ़ियों में खोट निकालने लगना और भी बड़ा चमत्कार है और उन्हें सुख के रास्ते के काँटे बता देना सबसे बड़ा चमत्कार है। जिन्दगी की अलिफ-बे-ते, यानी आ-ई, यही से शुरू होती है।

धर्म भले ही किसी बुद्धिमान की सूझ हो, पर हिन्दू जाति, मुसलमान जाति, ईसाई जाति, जैन जाति, सिख जाति, किसी की सूझ नहीं है। ये आप उगने वाली घास की तरह उठ खड़ी हुई है। इनकी खाद है—कायरता, जंगलीपन, उल्टी-सीधी वाते, उजड़ूपन, दब्बूपन वगैरह। आलस के पानी से ये खूब फलती-फूलती है।

रिवाजों की जड़ में, फिर वे चाहे कैसे ही हों, मूर्खता और डर के

सिखाव-कुछ न मिलेगा । जब किसी को इस बात का पता चल जाता है तो उस रिवाज को वह फौरन तोड़ डालता है और अपनी समझ से काम लेने लगता है ।

आज ही नहीं, सदा से ज्ञान पर शक होता आया है । कुछ धर्म-पुस्तके तो उसको शैतान की चीज मानती है । जो धर्म-पुस्तक ऐसा नहीं बताती उसके अनुयायी ज्ञान की खिल्ली उड़ाते हैं और खुले कहते हैं कि ज्ञानी दुराचारी हो सकता है और अज्ञानी भला, पर याद रहे सुखी जीवन ज्ञानी ही बिता सकता है, अज्ञानी कदापि नहीं । अज्ञानी बेगुनाह हो सकता है, भला नहीं । भला बनने के लिए अक्ल चाहिए । वह अज्ञानी के पास कहीं ? ईंट-पत्थर निष्पाप हैं, मन्दिर के भगवान् भी निष्पाप हैं, पर वे कुछ भलाई नहीं कर सकते ।

सब एक बराबर ज्ञान लेकर नहीं पैदा होते । हीरा भी पत्थर है और संगमरमर भी पत्थर, पर संगमरमर घिसने पर हीरे जैसा नहीं चमक सकता । पढ़ने-लिखने से समझ नहीं बढ़ती । हाँ, पहले से ही समझ होती है तो पढ़ने-लिखने से चमक उठती है । यो सैकड़ों पढ़े-लिखे रूढ़ियों में फँस जाते हैं, वे दया के पात्र हैं । और क्या कहा जाय !

आजकल की दुनिया अक्षर और अंको की हो रही है, यानी वी० ए०, एम० ए० की या लखपतियों-करोड़पतियों की, समझदारों की नहीं । वह सुखी जीवन में और जीवन-सुख के साधनों में कोई अन्तर करना ही नहीं जानती । दुनिया में समझदार नहीं, ऐसी बात नहीं है । वे हैं और काफ़ी तादाद में हैं, पर वे भीष्म पितामह, द्रोणाचार्य और विदुर आदि की तरह अक्षरों और अंको को विक गये हैं । जो दो-एक वच्चे हैं, वे संस्थाएँ खोलकर अपने जाल में फँस गये हैं । और उन्हीं के, यानी अक्षरों और अंकों में हो गये हैं । अपनी औलाद की खातिर और मनुष्य-समाज की खातिर वे उस गुलामी से निकलें तो दुनिया बदले और सुखी हो । याद रहे, दुनिया समझदारों की नकल करती है, अक्षरों और अंको की नहीं । हमेशा से ऐसा होता आया है और होता रहेगा ।

सच्चे सुख का सार

दुनिया असच की ओर दौड़ी चली जा रही है। कोशिश करने से बिलकुल सम्भव है कि वह सच की ओर चल पड़े।

दुनिया बुराई में फँस रही है। जोर लगाने से निकल सकती है और भलाई में लग सकती है।

दुनिया दिन-पर-दिन भौड़ी होती जा रही है। कोशिश करने से शायद सुगढ़ हो जाय।

सत्यं, शिवं, सुन्दरं के लिए भी क्या दासता न छोड़ोगे ?

पैसा रोके हुए है।

समझदारों को वह कैसे रोकेगा ? वे ऐसी अर्थनीति गढ़ सकते हैं, जिससे मनचाहा काम मिलने लगे और पराधीन भी न रहे। रोटी-कपड़े ही से तो काम नहीं चलता। आत्मानन्द भी तो चाहिए। बिना उस आनन्द के सुख के साधनों में डूबकर भी सुख न पा सकोगे।

समाज की सेवा इसी में है कि वर्तमान अर्थनीति का जाल तोड़ डाला जाय। ज्ञानियों को रगड़ना छोड़ना ही होगा और इस जिम्मेदारी को ओढ़ना ही होगा। इस विषय के घड़े को फोड़ना ही होगा। अपने को बचाना है, अपनी सन्तान को बचाना है, मनुष्य समाज को बचाना है। यह कुरूपी दुनिया तुम्हारे हाथों ही सुखिया बन सकती है और किसी के बूते सुखिया न बनेगी।

पैसा ठीकरा है। वह तुम्हें क्यों रोके ?

पापी पेट रोक रहा है।

पापी पेट ने समझदारों को कभी नहीं रोका। उनका जिस्म कमजोर नहीं होता। वे भूख लगने पर खाते हैं। वे काम करते हैं और खेलते जाते हैं। वे थोड़ा खाते हैं और बहुत बार नहीं खाते। वे धीरे-धीरे खाते हैं। वे कुदरती चीजें खाते हैं। जरूरत पड़ने पर हाथ की बनी भी खा लेते हैं। वे घर पर खाते हैं। वे बीमार क्यों होंगे और क्यों कमजोर ?

जिस्म तुम्हारा घोडा है। वह तुम्हें क्यों रोकेगा ? वह तो तुम्हें आगे, और आगे, ले चलने के लिए तैयार खड़ा है।

समाज रोक रहा है ।

वह क्या रोकेगा ? वह घास की तरह उग खड़ा हुआ जंजाल है । वह सूख चुका है । उसमें अब दम कहीं ? उसमें रिवाजों के बट है सही, पर वे जली रस्सी की तरह देखने भर के हैं । अँगुली लगाते बिखर जायेंगे ।

समाज समझदारों को अपने रास्ते जाने देता है ।

धर्म रोकता है ।

धर्म आगे टकेला करता है, रोका नहीं करता और अगर वह रोकता है तो धर्म नहीं है । धर्म के रूप में कोई रूढ़ि या रिवाज है । जो रोकता है वह धर्म नहीं होता । वह होता है 'धर्म का डर' । धर्म खुद तो डरावनी चीज़ नहीं, वह तो लुभावनी चीज़ है । पर धर्म के नाम पर चली रस्में वेहद डरावनी होती हैं । अगर डराती है तो वे, रोकती है तो वे । उस डर को भगाने में समझ बड़ी मददगार साबित होगी ।

डर हम में है नहीं । वह हम में पैदा हो जाता है, या पैदा करा दिया जाता है । जो डर हम में है, वह बड़े काम की चीज़ है । वह इतना ही है जितना जानवरों में । जिन कारणों से जानवर डरते हैं, उन्हीं कारणों से हम भी । उतना डर तो हमें खतरों से बचाता है और खतरों को बरबाद करने की ताकत देता है । अचानक बन्दूक की आवाज़ से हम आज तक उल्लूक पड़ते हैं । हमारी हमेशा की जानी-पहचानी बिजली की चमक हमको आज भी डरा देती है । इतना डर तो काम की चीज़ है, पर जब हम भूत-प्रेत से डरने लगे, नास्तिकता से डरने लगे, नरक से डरने लगे, मौत से डरने लगे, तब समझना चाहिए कि हमारा डर बीमारी में बदल गया है । उसके इलाज की जरूरत है । तिल्ली और जिगर तो काम की चीज़ें हैं, पर बड़ी तिल्ली और बड़ा जिगर बीमारियाँ हैं । बड़ा डर भी बीमारी है । मामूली डर हमारी हिफाजत करता है, बड़ा हुआ हमारा खून चूमता है । हमें मिट्टी में मिला देता है । मिट्टी में मिलने से पहले हम उसे ही क्यों न मिट्टी में मिला दें । भूत-प्रेत आदि हैं नहीं, हमने खयाल से बना लिये हैं, जैसे हम अंधेरे में नेत्र ही तरह-तरह की शकलें बना लेते हैं ।

सच्चे सुख का सार

डरपोक को धर्म हिम्मत देता है, तसल्ली देता है, बच भागने को मली निकाल देता है। जिन्हे अपने-आप सोचना नहीं आता, धर्म उनके बड़े काम की चीज है। सोचने वाले ना-समझदारों के लिए ही तो उसे सोचकर रख गये है। सोचने-समझने वालों के लिए धर्म जाल है, धोखा है, छल है। धर्म आये दिन की गुत्थियों को नहीं सुलझा सकता, कभी-कभी और उलझा देता है। धर्म टाल-मटोल का अभ्यस्त है और टाल-मटोल में नई उलझने खड़ी कर देता है।

सुखी बनने और समाज को सुखी बनाने के लिए यह बिलकुल जरूरी है कि हम अपने लिए, औरों के सोचे धर्म को, अपने मे से निकाल बाहर करें। उसकी रस्मे, उसकी आदते, उसकी छूत-छान, उसका नरक-स्वर्ग, उसकी तिलक-छाप उसकी डाटी-चोटी, उसका धोती-पाजामा एक न बचने दें। सचाई, मलाई और सुन्दरता की खोज में इन सब को लेकर एक कदम भी आगे नहीं बढ़ा जा सकता।

माँ बच्चे के लिए हौवा गढ़ती है। बच्चा डरता है। माँ नहीं डरती। माँ क्यों डरे? वह तो उसका गढा हुआ है। महापुरुष एक ऐसी ही चीज हमारे लिए गढ़ जाते है। हम डरते है, वे नहीं डरते। जो दिखाई-सुनाई नहीं देता, जो समझ में नहीं आता, जो सब कही और कही नहीं बताया जाता, ऐसे एक का डर हम में बिठा दिया जाता है। धर्म साधारण ज्ञान और विज्ञान की तरह सवाल-पर-सवाल पैदा करने में काफी होशियार है, पर जवाब देने-या हल सोच निकालने में बहुत ही कम होशियार। वह होनी बातों को छोड़ अनहोनी में जा टाखिल होता है। धर्म की इस आदत से आम आदमियों को बड़े टोटे में रहना पडता है। वे जाने-अनजाने अपनी अज्ञानकारी को कबूल करना छोड़ बैठते है। इस जरा-सी, पर बड़ी भूल से आगे की तरक्की रुक जाती है। समझदार अपनी अज्ञानकारी जानता भी है और औरों को भी कह देता है। समझदारी की बढवारी में अज्ञानकारी भी बुरी है, पर इससे समझदार घबराता नहीं। खोज में निकला आदमी बीहड जंगलों से घबराए तो आगे कैसे बड़े? समझदार अपने मन में उठे सवाल

का काम-चलाऊ जवाब सोच लेता है। वे जवाब काम-चलाऊ ही होते हैं, पक्के नहीं। पक्केपन की मोहर तो वह उन पर तब लगाता है जब वे तलुर्ने की कसौटी पर ठीक उतरते हैं।

जो जितना ज्यादा रूढ़िवादी होगा, वह उतना ही ज्यादा धर्मात्मा होगा, उतना ही ज्यादा अज्ञानकार होगा, उतना ही ज्यादा उसे अपनी जानकारी पर भरोसा होगा। वह स्वर्ग को ऐसे बतायेगा, मानो वह अभी वहाँ से होकर आ रहा है। वह ईश्वर को ऐसे समझाएगा, मानो वह उसे ऐसे देख रहा है, जैसे हम उसे।

नासमझी से समझदारी की तरफ चलने का पहला कदम है 'शंका करना'। शंका करना ही समझना है। अपनी नासमझी की गहराई शंका के फीते से नापी जाती है। यह नापना ही समझदारी है। 'ईश्वर है' यह कहकर सच्चाई की खोज से भागना है। अपनी नासमझदारी से इन्कार करना है।

कितना सच्चा और कितना समझदार था वह, जो मरते दम तक यही कहता रहा, "यह भी ईश्वर नहीं," "यह भी ईश्वर नहीं," "यह भी ईश्वर नहीं" (नेति, नेति, नेति) उसकी तरह तुम भी खोज में मिटा दो अपने आपको, पर जानकारी को मत छिपाओ। 'मैं नहीं जानता' कहना जिसको नहीं आता, वह सच्चा नहीं बन सकता। समाज-सेवक तो बन ही नहीं सकता।

आस्तिकता के लिए अपनी बोली में लफ्ज है 'है-पन।' जो यह कहता है, "मैं नहीं जानता कि ईश्वर है" वही आस्तिक है। जो यह नहीं जानता, "ईश्वर है" और कहता है कि "ईश्वर है" वह नास्तिक है।

क्यों ?

"जो नहीं जानता कि ईश्वर है" यह वाक्य यूँ भी कहा जा सकता है कि जो जानता है कि ईश्वर नहीं है। "नहीं है"—बड़ी नास्तिकता है।

मन की जमीन में ब्रंजा डर का कितना ज्यादा खाद हांगा, धर्म का बीज उतना ही जल्दी उसमें जड़ पकड़ेगा और फले-फूलेगा ?

१. 'है' कि भाववाचक संज्ञा।

महा-सत्ता यानी बड़ी ताकत से चाहे हम इन्कार न भी करे; पर बड़ी शखसियत से तो इन्कार कर ही सकते हैं। व्यक्तित्व—व्यक्ति की इन्द्रियो और मन का योगफल ही तो है। इनके बिना व्यक्तित्व कुछ रह ही नहीं जाता। अब कोई अनन्त गुणवाली शक्ति व्यक्ति नहीं हो सकती।

मन का रवभाव है कि वह डरकर शेखी मारने लगता है। कहने लगता है—“मै अजर हूँ, अमर हूँ, और न जाने क्या क्या हूँ।” धर्म की डींगों की जड मे भी अहंकार मिल सकता है। जीवन आप ही एक बड़ी पवित्र चीज है। तुम वैसा मानकर आगे क्यों नहीं बढ़ते? धर्म तुम्हारे मार्ग मे क्यों आडे आये ?

आत्मा को अजर-अमर कहकर धर्म चिन्ता मे पड गया कि वह इतना समय कहीं बितायगा। इसलिए उसको मजबूर होकर नरक-स्वर्ग रचने पडे, पर इन दोनो ने दुनिया का कुछ भला न किया। धर्म के लिए आये-दिन के भगडो ने इनको सिद्ध किया है या असिद्ध, यह वहाँ ही जानें। हिन्दू-मुसलमान लडकर हिन्दू स्वर्ग चले जाते है और मुसलमान जन्नत। नरक दोजख किसके लिए ? हिन्दू-मुसलमान लडकर हिन्दू मुसलमानों को नरक भेज देते है और मुसलमान हिन्दुओ को दोजख। फिर स्वर्ग, जन्नत किसके लिए ?

फिर एक धर्म दूसरे की वाते काटता है। एक नैतिक विधान दूसरे को मंजूर नहीं। कहना यही होगा कि ठीक विधान किसी को भी नहीं मालूम।

असल मे कुछ सवाल निहायत जरूरी हैं और कुछ निहायत जरूरी-से मालूम होते है, पर बिलकुल गैरजरूरी है। दुनिया जरूरी सवालो को छोडकर गैर-जरूरी के पीछे पड गई है। इसलिए सुख से दूर पड गई है और समाज-सेवा की जगह समाज की दासता मे लग गई है। इस तरह दुनिया अपना नुकसान करती है और समाज का भी।

खाने-पहनने का सवाल सबसे जरूरी है (‘भूखे भजन न होय गुपाला’) इनको तो हल करना ही होगा। न हम बगैर खाये रह सकते हैं, न बगैर

पहने । रहने को मकान भी चाहिए । इसके बगैर भी काम नहीं चलता । इनके बिना जी ही नहीं सकते । सुख की बात तो एक ओर । जीवन नहीं तो धर्म कहां ?

जरूरी से लगाने वाले ग़ैर-जरूरी सवाल है—पुनर्जन्म, ईश्वर, स्वर्ग-नरक इत्यादि । इनके हल करने की बिरले ही कोशिश करते हैं और वह भी कभी-कभी । कोई-कोई इन सवालों को बहुत जरूरी समझते हैं, पर वे समझते ही हैं । कुछ करते नहीं हैं ।

ईश्वर को कोई माने या न माने, आग उसे जरूर जलायेगी, पानी उसे जरूर डुबायेगा । कोई ईश्वर को माने या न माने, पानी उसकी प्यास जरूर बुझायेगा । आग उसकी रोटी जरूर पकायेगी । हाँ, धर्म के टेकेदार मानने पर भले ही न मानने वालों को कुछ सच्चा दे । अब अगर न मानने वाले का समाज से कोई आर्थिक नाता नहीं है तो समाज का धर्म उसका क्या रोक लेगा और वह क्यों रुकेगा ?

रह गया धर्म यानी सच्चा कर्तव्य । वह तो तुम्हारा तुम्हारे साथ है और हमेशा साथ रहेगा । रह गया धर्म, यानी सच्चा ज्ञान । वह तो तुम्हारा तुम्हारे साथ है और हमेशा साथ रहेगा । रह गया धर्म यानी सच्ची लगन । उसे तुमसे कौन छीनेगा ? उसे धर्म रोकता नहीं ।

धर्म वही जो हमें सुखी करे, हमें बाँधे नहीं, हमें रोके नहीं ।

अब आपकी तसल्ली हो गई होगी और समाज-सेवा के मैदान में कूटने की सारी दिक्कतें भी खत्म हो चुकी होंगी । और आप हर तरह यह समझ गये होंगे कि व्यक्ति जैसे-जैसे अपने पैरों पर खड़ा होता जायगा और जैसे-जैसे वह अपने खाने-पहनने और रहने के लिए दूसरों पर निर्भर रहना छोड़ता जायगा, वैसे-वैसे ही वह सुखी होता जायगा और समाज को सुखी बनाता जायगा ।

उसके पाम ऐसी चीज़ें ही नहीं होंगी, जिनके लिए उसे सरकार की जरूरत पड़े । हाँ, वह समाज की कुदंगी रचना के कारण कुछ दिनों सरकारी टैक्स से न बच सकेगा, पर इसके सुख में ज्यादा बाधा न पड़ेगी ।

लेकिन जब उसकी देखा-देखी और भी वैसा करने लगेंगे तो उसकी यह दिक्कत भी कम होकर विलकुल मिट जायगी ।

बड़ी-बड़ी सस्थाओं का हम तजुर्वा कर चुके, तरह-तरह की सरकारें बना चुके, तरह-तरह के धर्मों की स्थापना कर चुके; पर व्यक्ति को कोई सुखी न बना सका । देखने के लिए आजाद, पर हर तरह गुलाम ।

बस अपने को पूरा स्वस्थ रखने में, सब तरह प्रसन्न रहने में, भला और समझदार बनने में, अपने नियम बनाकर आजाद रहने में और अपने ऊपर पुरा काबू रखने में ही अपनी और समाज की सेवा है ।



सजा, इनाम और होड़

सजा के जरिये हम नेकी के बीज में अंकुश फोड़ते हैं, इनाम से हम उसको पानी देकर बड़ा करते हैं और होड़ से उससे ज़्यादा-से-ज़्यादा फल लेते हैं। दुराव, स्याव, ह्याव (सजा, इनाम, होड़) तीनों की एक ही गरज है यानी बालक में बैठी नेकियों को जगाना, उठाना और काम में लगाना। तीनों आदमी की ईजादे हैं। आदमी की हरेक ईजाद बड़ा काम कर रही है। दो-एक को छोड़, सब को ऐसा मालूम होता है कि आदमी की हरेक ईजाद समाज का बड़ा भला कर रही है। लगता है कि अगर वे ईजादे न हुई होती तो आदमी बड़ा दुखी होता। मिसाल के लिए परमाणु-बम। अपनी ईजादों के बल पर आदमी यह सोचने लगा है कि अगर फल वह गेहूँ की खेती करना छोड़ दे तो गेहूँ का दुनिया से नाम-निशान मिट जाय और भी बहुत-सी चीजों का यही हाल हो। ठीक इसी तरह वह यह भी सोचने लगा है कि अगर सजा को उठा दे तो दुनिया में बदमाशों की बाढ़ आजाय। इनाम देना बन्द कर दें तो सारी दुनिया सोया करे, कोई कुछ काम ही न करे। होड़ का रिवाज उठा दें तो आदमी को जंग लग जाय और वह घिस-कर गल-सड़ जाय। अफ्रीका के जंगलों में आपों-आप उगे केले के दरख्त कितने बड़े और मीठे केले देते हैं, उस तरफ उसकी निगाह ही नहीं जाती। जहाँ सजा, इनाम, होड़ नहीं पहुँची ऐसी जंगली जातियों में कितनी सिक्रतें पाई जाती हैं उस तरफ वह ध्यान ही नहीं देता। उसने कुछ मनमाने कायदे

बना लिए है जो उसके लिए जाला बन गए है। आदमी मकड़ी हुआ उस जाले में न जाने किस शिकार की ताक में बैठा रहता है।

लीजिए, पहले सजा के बारे में कुछ विचार सुनिये:—

सारी जिन्दगी, सारा अनुभव हमको यह साफ सबक दे रहा है कि भलाई बेफायदा नहीं जाती और कोई बुराई बेसजा नहीं, फिर चाहे वह तन की हो, वचन की हो, मन की हो या आत्मा की। सजा मिलने में देर हो सकती है, पर मिलती जरूर है।

अफलातून सजा को दवा समझते थे। और गलती, भूल, बुराई को बीमारी। उनका कहना था कि बटमाश को सजा देना इतना ही जरूरी है जितना बीमार को दवा देना।

जो लोग यह समझते हैं कि हर बुराई की सजा ईश्वर देता है, उनका सजा के बारे में अज्ञान खयाल है। वे सजा को लंगडी बुढ़िया समझे हुए हैं। ईश्वर का हुकम पाते ही वह लंगडाती हुई चल देती है। देर-सवेर बटमाश तक पहुँच ही जाती है।

हर बुराई की सजा मिलती ही है, चाहे वह ईश्वर की तरफ से मिले या उसके तैनात किये राजा की तरफ से या समाज की तरफ से। यह खयाल ऐसा खयाल है जो हमारे दिल को बेहद तसल्ली देता है। हमें खुद भी सजा देने में बड़ी आसानी मालूम होती है। दिल ठण्डा हो जाता है और ऐसा मालूम होने लगता है मानो सचमुच हमने जादू कर दिया। सजा पाने वाले का चेहरा हमको साफ ऐसा कहता हुआ लगता है कि बुराई उससे एकदम काफूर हो गई और हमने, सिर्फ हमने, उसको शैतान से फरिश्ता बना दिया। यही वजह है कि सजा देवी हमारे मन में आसन जमा बैठी है। उनकी सलाह हमारे लिए फिर यही होती है कि तुम कानून बना दो कि हर बुराई की सजा मिलेगी ही और उन्हीं देवीजी का फिर यह भी कहना है कि बुराईयों एफ़दम रुक जायेंगी। वह सजा की सख्ती पर इतना जोर नहीं देती, जितना सजा के लाजमी होने पर। देवी जी न सजा की कितान (पीनलकोड) की मुट्ठी देख पाती है और न जेलखानो की गिनती गिन

पाती है ।

सजा देवी के मुँह में होकर उनके पेट के अन्दर भाँका तो वहाँ फाँसी का रस्सा और फूलों का हार दोनों दिखाई दिए । मैं चकरा गया । मैंने पूछा— यह फूलों का हार आपके पास किस लिए ? बोली—तुम अपना दुश्मन मारो तो गले में मैं डालती हूँ फाँसी का रस्सा, और अगर तुम राजा का दुश्मन मारो या समाज का दुश्मन मारो तो गले में डालती हूँ फूलों का हार । यह सुनकर मैं दंग रह गया ।

आदमी या आदमियों को मार डालने की सजा गले में फूलों का हार !

ऐसे लोग आज भी मौजूद हैं जो 'ककड़ी के चोर को कटार की सजा' के कायल हैं । 'एक गोली से टस्त नहीं होता तो दो गोली दो' उनका उसूल है । होमियोपैथी की हल्की खुराक की तरफ उनकी निगाह ही नहीं जाती । भाड-फूँक से वह आदमियों को अच्छा होते देखते हैं, अपनी आँखों देखते हैं, पर उसमें वह कुछ नजरबन्दी मानते हैं, छल मानते हैं । बुराइयों भलाई से दूर होती हैं, इस बात को तो वह सुनना ही नहीं चाहते, दोनों कानों पर हाथ धर लेते हैं । सजा, कड़ी सजा, तीरो की सजा, आधा गाड़कर कुत्ते छोड़ देने की सजा, जिन्दा जला देने की सजा ही उनको ठीक सजा जँचती है ।

एक हैं—सजा के कायल हैं, दिल से कायल है, पर दिल रखते हैं मोम-सा । वह सजा को ईश्वर के हाथ सौंपकर भी सलाह देते हैं—किसी को सजा पाते देखकर हमको सुख नहीं मनाना चाहिए । हम जो लोगों की नजर में बड़े भले हैं, काला दिल रखते हैं । एक दिन हमको भी सजा मिलेगी तब क्या दूसरे न हँसेंगे ? किसी को डूबते देखकर हमको तरम ही आयेगा और हम पर ईश्वर का रोव ही छायेगा ।

कुत्तर करना यानी ममाज के किसी कायदे को तोड़ना । कायदा तोड़ने के लिए इच्छा-शक्ति को थोड़ा कड़ा करना पड़ता है । सजा देने वाला जब कुत्तरवाग को सजा देता है तब यही तो चाहता है कि उसकी इच्छा-शक्ति

मुलायम पड जाय और उमका टीठ कम हो जाय । अब सोचना यह है कि क्या समाज के लिए यह भलाई की बात है कि वह अपने मेम्बरो की, जिन से वह बना हुआ है, इच्छा-शक्ति को कमजोर बनाये ? सजा का सजा पाने-वाले पर क्या असर होता है—उम तरफ से आँख फेर लेने से काम क्योकर चलेगा ? सजा का नतीजा ज्यादातर यह हुआ करता है कि सजा पाने वाले की इच्छा-शक्ति और मजबूत हो जाती है और वह और भी जोर से बुराइयाँ करने में लग जाती है ।

सजा को जो ठीक समझते हैं उनकी एक दलील, जो असल में जबरदस्त नहीं है, देखने-सुनने में बड़ी जबरदस्त मालूम होती है, यह है—‘बदमाशी की ठीक ठीक सजा से सिर्फ बदमाश की बेइज्जती होती है ।’ इस दलील में एक छल है, दलील देने वाले के सामने कुछ मिनटो का संसार है । वह दलील देते वक्त यह सोचता ही नहीं कि सजा के आगे-पीछे और क्या हो जाने को है । वह यह समझता है कि आगे राख से टक देने के बाद बुझ जाती है और ठण्डी हो जाती है, जो गलत है ।

सजा के रिवाज ने समाज के मन की काया-पलट कर दी है । सजा दिये जाते वक्त समाज का मेम्बर, समाज से एकटम अलग पड जाता है । समाज सजा पाने वाले को अपने दिल से भुँला देता है । सजा दिये जाते वक्त समाज सिर्फ यही देखता है कि बदमाश को बदमाशी की पूरी सजा मिली या नहीं और बदमाशी रुकी या नहीं । बदमाश से बदमाशी क्यों हुई इस बात से उसको कोई मतलब नहीं । बदमाश भी समाज का मेम्बर है, यह उसके ध्यान में ही नहीं आता । भूल से हमारे हाथ की उँगली अगर गरम कोयला छू ले तो उससे हमें तरुलीफ तो होगी, पर उँगली को हम सजा नहीं देते उसकी दवा करते हैं । समाज का मेम्बर समाज-देह की एक उँगली होता है । उसके साथ हम वैसा क्यों नहीं करते ? सजा की फिलामफी ही इसकी जिम्मेदार है ।

मौत की सजा ने तो सजा कीजारी भलाई का भंडाफोड कर दिया । सजा का मतलब है बुरे आदमी को भला बनाना, कितनी काम का बनाना, समाज

के फायदे का बनाना । पर उसको मौत के घाट उतारकर यह सब काम तो नहीं हो सकते । फिर यह सजा क्या हुई ? एक आदमी से जो थोड़ी-बहुत भलाई होती थी वह भी रोक दी गई । समाज के हाथो मौत की सजा पाये हुए लोगो की कहानियाँ यह साबित करती है कि सजा की न सही, मौत की सजा की रग-रग मे समाज की बुराई मौजूद है । एक मनचले इसका यो जवाब देते है— फॉसी देकर हम फॉसी पाने वाले को थोड़े ही ठीक करना चाहते है, हम तो उसको फॉसी देकर किसी या किन्ही और को ही ठीक करते है और आगाह करते है । खूब ! सुना है या शायद कही पढा है कि कुछ उस्ताद राजा के लडके को पढाने के लिए एक 'पीटू लडका' भी रखा करते थे । राजा का लडका जब कोई कुसूर करता था तो पिटा करता था 'पीटू लडका' । उस लडके के पिटने का असर राजा के लडके पर पडता था और वह कुसूर करना छोड देता था । यह बात सच हो सकती है और किसी कायर उस्ताद को ऐसी बात सूझ भी सकती है । पर राजा का लडका इस तरीके से सुधर जाये यह बात बिलकुल गलत है । असल बात तो यह है कि एक की सजा दूसरे पर दो असर छोडती है । एक यह कि कुसूर होशियारी से और छिपकर करना चाहिए, दूसरा यह कि कुसूर खुल्लमखुल्ला और ज्यादा बहादुरी से करना चाहिए । दोनो ही असर समाज के लिए भले नहीं । यह बात गलत है कि सजा से न्याय की धाक जमती है, समाज की रक्षा होती है, या कुसूर करने वाले का सुधार होता है ।

जैसे आम मे गुठली और गूदा दोनो रहना जरूरी हैं । और जैसे आम मे छोटी गुठली होती है तो गूदा ज्यादा होता है बडी गुठली होती है तो गूदा कम रहता है । ठीक इसी तरह आदमी मे बडी और नेकी दोनो रहती है । बडी कम होती है तो नेकी ज्यादा और बडी ज्यादा होती तो नेकी कम । नेकी के साथ बहादुरी बढ़ती है और बडी के साथ कायरता । बहादुरी को मुख पहुँचाने मे सजा आता है और कायरता को दुःख पहुँचाने मे । कायरता की खुराक बदमाशी । बदमाशी को काबू मे रखने के घर जेलखाने । नेकी के फलने-फूलने के बगीचे मदर्मे । यो मदर्मे और जेलखाने एक-

दूसरे की कमी को पूरा करते हैं। निन्यानवे स्कूल है तो एक जेलखाना होगा, अठानवे स्कूल है तो दो जेलखाने होंगे, और सतानवे स्कूल है तो तीन ! सरकार को जेलखाने का शौक होता है। सरकार जब पैदा हुई थी तब बुराईयाँ बहुत थी। यो सरकार की आदत जेल-पसन्द बन गई है। सरकार अपनी समझ में भलाई करती है, पर उसके काम से समाज की बुराई ही हो जाती है।

समाज ने, न जाने क्यों, सजा को न्याय का स्तम्भ दे रखा है और इस तरह उसका आसन सचाई से भी ऊँचा कर दिया है। सजा से अन्याय मिटता है यो सजा न्याय है। पर सजा से अन्याय मिटा क्या ? दो बातें समाज में पूरी सचाई की जगह पाये हुए हैं जब कि उनमें पॉच-फी सदी सचाई भी नहीं है। एक यह कि दवा से बीमारी जाती है, दूसरी यह कि सजा से अन्याय मिटता है। सजा अपने-आप बुराई है और अन्याय है। वह अन्याय किस तरह मिटा सकती है ? जलती हुई मोमबत्ती की लोय एक पतंगे को जलाती है, उस लोय ने बुराई की। हमने उसे सजा दी और एक दहकता कोयला उस लोय पर रख दिया। लोय बुझ गई, हुआ क्या ? रोशनी मिट गई। जो सबके भले की चीज थी। पतंग जल रहा है, मोमबत्ती पिघल रही है, अधेरा बढ रहा है और हो सकता है कोई ठोकर खाकर उस दहकते कोयले पर ही गिर पड़े। यह है सजा, न्याय की बेटी या अन्याय की अंगरक्षक।

सजा की जड में हमेशा न्याय ही रहता है, यह बात गलत है। ज्यादातर बदले का खयाल रहता है। कानूनी सजा जो हाईकोर्ट के जज देते हैं उसमें भी खालिस न्याय नहीं रहता। उसमें तो बदले के अलावा और भी बातें रह सकती हैं। उन्हें जाने दीजिये। सिर्फ बदले को ही लीजिये। कभी-कभी किसी डाकू से सारा समाज तंग आ जाता है। हाईकोर्ट के जज तंग आने से अच्छे नहीं रह जाते। उस वक्त डाकू को जो सजा दी जाती है उसमें न्याय का रती-भर हिस्सा नहीं रह जाता। वेहद तकलीफ मिलने पर जो सजा दी जाती है, उसके पीछे कोरा बदला रहता है। घरों में बच्चों के साथ, स्कूलों में पढ़ने वालों के साथ, मिलों में मजदूरों के साथ, दफ्तरो में क्लर्कों

के साथ, रोज जो सजा मिलती है, उसमें बदले का हिस्सा इकावन फ़ी-सदी से कम नहीं होता। और वह सजा इन्साफ़ की ब्रेटी समझी जाती है !

चोरो की सजा मौत तक पहुँचकर अटक गई, चोरी न रुकी ! अब पीछे लौट रही है। आगे रास्ता नहीं। जो रास्ता है उस रास्ते सजा चल नहीं सकती। सजा की यह नाकाबलियत इस बात का सबूत है कि वह मुहब्बत, इन्साफ़, दया, माफ़ी से कोई रिश्ता नहीं रखती। प्रेम की चिकनी सड़क पर सजा के पाँव फिसल जाते हैं, वह गिर पड़ती है। एक कदम नहीं चल सकती। सजा बेकार साबित हो रही है; पर लोग उससे चिपके हुए हैं और न जाने कब तक चिपके रहेंगे।

कुछ लोग इस हद तक पहुँच गये हैं कि कह बैठते हैं कि कुसूर में खुद सजा के बीज रहते हैं। जो बात कही, खूब कही। जरा आगे बढ़िये और कहिए—‘कुसूर खुद सजा है।’ ऐसा कहने से कुसूरवार सजा से बच सकेगा और हमें तो यही ठीक जँचता है। उँगली ने आग में जाने की भूल की और जली। अब तो कुसूर और सजा एक ही सिक्के के दो-पहलू-भर रह जाते हैं। फिर सजा के मन्दिर, अदालत और सजा भुगतने के घर, जेल-खाने बेकार हो जाते हैं।

बहुतों की यह राय है कि सजा को असर वाली बनाने के लिए दो बातें जरूरी हैं। एक यह कि कुसूर से जरा भी घट बढ़कर सजा न दी जाये। दूसरी यह कि किसी को बिना सजा के न छोड़ा जाये। बात तो बड़ी अच्छी है। हम समझते थे कि उन्होंने वह तराजू भी तैयार कर ली है, जिसके एक पल्ले में कुसूर रखा जा सकेगा और दूसरे में सजा; पर वह तराजू तो उनके पास न निकली। कुसूर और सजा दोनों ही ऐसी चीज़ें हैं जो तोली नहीं जा सकती। बिना सजा किसी को न छोड़ना ईश्वर के बस की बात हो तो हो, आदमी के बस की बात नहीं है। ईश्वर के बनाने वालों ने कुसूर की सजा से बचने की मारी पहले ही तैयार कर रखी है। ‘गम-राम’ और ‘अल्लाह-अल्लाह’ कह कर किस सजा से नहीं बचा जा सकता।

शुरू-शुरू में आदमी को आग बड़ी बुरी जँची होगी। वह जहाँ उसको देखता होगा मार डालता होगा; यानी बुभा देता होगा। यही हाल शुरू के चोर-डाकुओं का हुआ होगा। पर पीछे आदमी को अक्ल आई और उसने आग से खाना पकवाया और चोर-डाकुओं से अपना राज बढ़वाया। आदमी जैसे बड़े काम वाले जानदार का सबसे बुरा इस्तेमाल है उसको मार डालना। समाज की इससे बड़ी नाकाबलियत और क्या हो सकती है कि वह अपने एक हिस्से से कोई फायदा नहीं उठा सकती? कुसूर को सज़ा न देकर या कुसूर को न ठीक कर कुसूरवार पर पिल पड़ना ऐसा ही है जैसे बन्द घड़ी को कूकने की जगह पत्थर से कुन्डल डालना, या सुस्त चलने वाली घड़ी को, कौंटा सरकाकर ठीक करने की जगह समुद्र में फेंक देना।

एक और मटरसा है, जिसका अनोखा ही ख्याल है। उसका कहना है कि हम किसी को सज़ा इसलिए देते ही नहीं कि उसने कुसूर किया है, हम तो सज़ा इस बात की देते हैं कि वह फिर कुसूर न कर पावे। जो हो चुका सो हो चुका, उसका सज़ा कुछ बना-बिगाड नहीं सकती। उस मटरसे का यह भी कहना है कि सज़ा में न गुस्सा रहता है, न बदले का खयाल, न कुसूर करने वाले से नफरत, न और कोई बुरी बात। उसकी राय में सज़ा कुसूर की रोक-थाम में काम आती है। बात बड़ी अच्छी है; पर सज़ा देने वाले में अगर गुस्सा नहीं है, घमण्ड नहीं है, फरेब नहीं है, बदले का खयाल नहीं है, तो यह सज़ा ही क्या होगी? उसका तो नाम ही सज़ा होगा और वह भी सिर्फ इसलिए कि कसूरवार को दी जा रही है। अगर एक मॉ अपने कसूरवार बच्चे को गोदी में लेकर बड़े प्यार से पुचकारकर कहे—ना बेटा, ऐसा नहीं किया करते तो यह भी एक सज़ा है, पर ऐसी सज़ा को हम भी कब बुरा कहते हैं! अगर आप मुहब्बत के सब गुन ज्यों-के त्यों रहने देते हैं तो आप भले ही मुहब्बत को सज़ा के नाम से पुकारिये हमें कोई एतराज़ न होगा, पर मुहब्बत का डरावना और बदनाम-नाम सज़ा, आप रखते ही क्यों है? आप साफ कहिये कि कसूर के गरम पानी को प्यार की हवा देकर फिर ठंडे पानी में ब्रदल देना।

कुछ अपने ही ढंग से सोचते हैं। वह कहते हैं—आदमी दिल और दिमाग दो का बना है। दिल भी कुसूर करता है और दिमाग भी। दिमाग के कुसूर की सजा समाज देता है, दिल के कुसूर की ईश्वर। लोक-परलोक में अकीटा रखने वालों का ऐसा सोचना ठीक है; पर उनको यह तो मानना ही पड़ेगा कि आदमी का हरेक कुसूर दिल और दिमाग दोनों की मदद से होता है। अब उसको यहाँ भी सजा मिलेगी और वहाँ भी! यह कहों का इन्साफ है! इन्साफ की हद पार कर सजा गैर-इन्साफ़ी के दायरे में आ जायगी और फिर सजा सबकी नजरो से गिर जायगी। एक थप्पड़ मारने वाला एक थप्पड़ खाकर यह समझ नहीं सकता कि अब उसके लिए और कौन सी सजा बच रही, जो उसको ईश्वर के दरबार में मिलेगी और वह कौन देगा? और जो देगा क्या वह मुझे मारकर और कुसूरवार न बन जायगा? दूसरे के दरबार में यह नहीं हो सकता कि मैं उसका थप्पड़ खाऊँ, जिसका मैंने कुछ नहीं बिगाड़ा, नहीं तो इस लोक और परलोक में फर्क ही क्या रह जायगा?

जिस आदमी ने ईश्वर को ढूँढ़ा उसने ईश्वर की सजाएँ भी खोज निकाली। आदमी में डर पैदायशी है और मरते दम तक रहता है। डर का और सजा का गहरा नाता है। डर सजा की याद करता है; पर जब वह आती है तब डरता है। उसका उस मोमबत्ती-जैसा हाल है जो सुबह की याद में घुलती रहती है; पर सुबह के आते ही उसे देख मर जाती है। डर की सजा के साथ इस अनोखे ढंग की नातेदारी से आदमी ने फायदा उठाया। ईश्वर की सजाएँ कायम कर वह बहुत सी दिक्कतों से बच गया। डर की वजह से आदमी का मन सजा के नाम से घबराने लगा और कभी-कभी तो उसके खयाल से ही बैठ जाने लगा। बे-सजा के मौत होने लगी है और होती रहेगी। अब यह बात तय कर दी गई कि ईश्वर भलों का तरफदार है, क्योंकि जो सजा से डरता है, वह कुसूर नहीं करता। और जो कुसूर करता है वह सजा से डरता है और डरकर अपनी सजा आप दे लेता है। इस बात में बड़ी भ्रष्टाई है। फौसी की सजा का हुकम जिनको हो जाता है, वह

उसी वक्त से मरने लगता है; यानी सज़ा भुगतने लगता है। फॉसी लगने के दिन तक वह पूरा मर चुका होता है। फॉसी तो मुरदे को दी जाती है। यह बात हम अॉखो देखी कह रहे हैं। सज़ा ने हमारे मनो मे इतनी गहरी जगह कर ली है कि अगर हम संसार से सज़ा का नाम मिटा दे तब भी वह कई सदी वहाँ बनी रहेगी।

कुछ जुर्म और सज़ा को एक डाली मे लगे फूल-फल बताते हैं। वह जुर्म को फूल मानते है। फूल की खुशबू की तरह हर जुर्म मे आदमी को मज़ा आता है और यह सच बात है। जुर्म मे कुछ मज़ा न हो तो कोई करे क्या ? और उसी फूल मे फल के बीज की शकल मे सज़ा छिपी रहती है। जुर्म का फूल गिर जाता है, सज़ा का फल लगा रह जाता है और बढता रहता है। यह बात बड़े ढंग से कही गई है, पर इस उसूल से न ईश्वर सज़ा देने वाला रह जाता है, न सरकार, न उस्ताद और न मॉ-बाप। यह कहकर तो सज़ा का अन्त ही कर दिया और यह तो हम चाहते ही है।

हमारी राय मे सज़ा से बुरी और कोई चीज़ नही। यह आदमी की आदमियत को खा गई। उसकी ही नही, जिसको यह मिलती है, उसकी भी जो इसको देता है। अन्तरात्मा की पुकार को अगर कोई बाहर जाने से रोक्ता है तो यह सज़ा है। जमीर को खुदा की राह चलने से हमेशा सज़ा ने रोका है। हमारे अन्दर बैठे ईश्वर का दम यही घोटती रहती है। अगर सज़ा न होती तो एक युग, एक अवतार या एक रसूल ही पैदा करके न रह जाता। वह हजारो-लाखो को जन्म देता और यह दुनिया देवनगर या फरि-शताबाद मे बदल गई होती।

सज़ा बुराइयो की डाट है। जिस आदमी मे तुमने डाट लगाकर बुरा-इयाँ रोक रखी है उनमे से कभी भलाई फूट निकलने की उम्मीद तुम कैसे रख सकते हो ? उसमेसे जब भी कुछ निकलेगा वह बुराई ही होगी। सज़ा देकर आदमी के नेकी मे लग जाने की उम्मीद करना बबूल वोकर आमो की फसल की उम्मीद करने-जैसा है।

आदमी कुसूर करने के बाद अन्दर की तरफ देखता ही है और वह

जो अपना सुधार करता है वह किसी सजा या सजा के खयाल में नहीं हो सकता। बच्चा कोई नुकसान करने के बाद जब बाप का थप्पड़ खा लेता है तो नुकसान के बारे में सोचना बन्द कर देता है। यही आदमी का हाल है।

इस बात की सच्ची जानकारी होनी ही चाहिए कि कब सुधार की जरूरत है और कब प्यार की। यह जानकारी मुश्किल से मिलेगी; पर होती है बढ़िया। और बढ़िया चीज के लिए थोड़ी मुश्किल उठाना बुरा न होगा।

अगर आप सजा दिये बगैर नहीं रह सकते तो आइए, हम आपको एक बहुत बढ़िया सजा बताते हैं और यह सजा सब सजाओं से बढ़कर अपना असर रखती है। हमारी आजमाई हुई है और वह है यह:—

कुसूरवार को उसी पर छोड़ दो।

यह कहा जाता है, इनाम से नेकी के पौधे को पानी मिलता रहता है। सोम—रस हम नहीं जानते क्या चीज थी। हाँ, यह पता लगा कि उसे पीकर वेद के ऋषि वेद ऋचाएँ लिखते थे। लिखते होंगे! आज भाँग पीकर बहुत से कवि ईश्वर के भेद की कौड़ी ले आते हैं तो वह सोम-रस के जरिये क्यों न सीधे ईश्वर से बातें करते होंगे। शराब पीकर बढ़िया फ़ैसले लिखने की बात इलाहाबाद-हाईकोर्ट के एक जज की सच्ची है। शराब की और बहुत-सी तारीफ़ें हैं। शराब की चुस्की से बरतानिया और अमरीका रानी की आँखें लाल रहने की वजह से वह सारी दुनिया को पसन्द आ गई है। शराब अकल को खराब करती है, यह बात अन्न फ़ोर्ड सुनना नहीं चाहता। इनाम का रिवाज लडकों को कुन्द-जहन बनाता है, यह भी कोई नहीं सुनना चाहता। शराब की तरह इनाम का नशा चढ़ना है, आँखें लाल होती हैं, उनमें सरूर आना है और वह सब बातें होती हैं जो शराब से होती हैं। इनाम पाने के लिए लडके चोरी करते हैं, अपनी नेक-चलनी पर धब्बा लगाते हैं, तरह-तरह के बहमों में फँस जाते हैं। हाँ, अकल भी बटाते हैं, पर वह इस काम की कि इनाम के हकदार न होंत हुए हम इनाम कैसे पा लें !

जरूरत रानी को इनाम जवान जेंचा । उन्होंने उससे शादी कर ली । पहला बच्चा हुआ नज़र, जिसका प्यार का नाम भेट है । दूसरा बच्चा हुआ रिश्वत, जिसका प्यार का नाम घूस है । तीसरा हुआ वज़ीफा (सरकारी वज़ीफा-खोरो ने बड़े-बड़े नाम कमाये है) जिसको पण्डित लोग पुरस्कार नाम से पुकारते हैं । चौथा हुआ दक्षिणा, जिसका प्यार का नाम दच्छना है । मतलब यह है कि इसने बहुत-से बच्चे जन डाले । इन श्रीलादो मे इनाम की कितनी सिफतें रह गई है यह पता लगाना टेढ़ी खीर है । उन्हें छोड़िये, हमे इनाम से काम ।

पहले इनाम पाने वाले ने जो नेकी की थी उसने इनाम की बात कभी नहीं सोची थी । अब भी जितने सचमुच इनाम के काम होते है उनमे काम करने वाला इनाम की नहीं सोचता । उसे वैसा करने की फुरसत ही कहीं होती है । डूबते को बचाने के लिए कूदने वाला इनाम की बात सोचने के लिए वक्त कहीं पायगा ? गुण्डे के हाथ मे पडी अबला को बचाने के लिए जान पर खेलने वाला इनाम देने वाले को कहीं हूँदता फिरेगा ? आगे लगे मकान मे से बिलखते बच्चे को आग मे घुसकर निकालने वाला किंस इनाम के भरोसे पर कूदता है ? इनाम देने वाले, इनाम पाने वाले मन को नहीं जानते और जान सकते भी नहीं है । पर अचरज तो यह कि इनाम पाने वाला भी अपने उस मन की याद भूल जाता है, जिस मन ने इनाम पाने का काम किया था । उस मन का एक कण भी उसे फिर वापस मिल जाय तो वह हरगिज़ इनाम न ले । दो बड़े कामो का इनाम शायद ही किसी ने पाया हो । हाँ, दो बड़े काम करने वाले दो से ज्यादा एक शहर मे मिल सकते है । मेरे कहने का मतलब यह है कि इनाम पाकर मन खुश तो होता है; पर बड़े काम करने की काबलियत अगर बिलकुल नहीं खो देता तो कम जरूर कर लेता है । राजा बनने से पहले के जेंचे खयाल राजा बनने के बाद नहीं रह जाते । कामवैल और नेपोलियन की मिसाले मौजूद है ।

चीन के सन्त कॉंगफू ने कितनी समझ की बात कही है कि 'जो दूसरो

की भलाई की इच्छा करता है, उसने अपनी भलाई तो पहले ही कर ली । इसमें शक नहीं कि भलाई का फल भले पेड़ में ही लग सकता है । पेड़ फल देकर अपने में का बहुत कम हिस्सा दूसरों को देता है । इसी से अन्दाजा लगाया जा सकता है कि भलाई करनेवाले का दिल कितना भला होता है । उतना भला दिल क्या इनाम पाने की सोच सकता है, या अगर मिले तो कभी ले सकता है ? पर मन में एक बड़ी खराबी है । वह बादल की तरह जल्दी-जल्दी रूप बदलता है । अगर ऐसा न होता तो इनाम का रिवाज दुनिया में कभी न पनप पाता । दिल की कली जब खिलने लगती है तो वह खुशबू देना शुरू करती है । उसी खुशबू को लोग नेकी कहकर पुकारते हैं । इनाम की गरमी उस खिले फूल को कुम्हला देती है । नेकी करने के ठीक बाद तो सौ फीसदी इनाम के हकदार इनाम लेने से इन्कार करेगा, पर इनाम तो बहुत देर में मिलता है । तब तक मन-बादल न जाने क्या रंग बदल चुका होता है ! इसलिए वह इनाम लेने की हालत में आ चुका होता है । और यो कभी शरमाता-लजाता और कभी उछलता-इतराता उसे ले ही लेता है । पहले इनाम देने वाले का इनाम, मन की उमंग था । और शायद वह इनाम न रहकर नोछावर रझा होगा; पर अब तो इनाम रिश्त का बाप बनता जा रहा है और लालच की गद्दी हथियाता जा रहा है । नोछावर में इनाम की असलियत मौजूद है, पर वह तो नेकी करने वाले को नहीं मिलती, उसके सगे संबंधियों को भी नहीं मिलती । वह जिसको मिलती है उसे नेकी करने वाला जानता भी हो, यह तक जरूरी नहीं है । हमें तो नोछावर की माँ वह अरुचि या बेपरवाही मालूम होती है जो इनाम का काम करने वाले ने इनाम में दिखाई होगी । इनाम था इनाम देनेवाले के मन की उमंग, वह बरसते पानी की तरह बादल को नहीं लौट सकता था, वह इनाम पाने वाले की बेपरवाही की छतरी से टकराकर गिर गया । उससे उमको क्या सरोकार और इनाम देते वाले बादल को भी क्या सरोकार !

इनाम कर्तव्य का मैल है । कर्तव्य करने वाला मन उसको फेंकेगा ही,

अपनायेगा कैसे ? पसीना मैल है, वह अन्दर रुक जाये तो दुःख देता है, निकल जायेगा तो सुख देगा । कर्तव्य करने वाला मन सौ फीसदी इनाम की स्वाहिश (भगवान् कृष्ण की बोली में फल की इच्छा) को मैल की तरह निकालता ही है और उसी और सिर्फ उसी स्वाहिश के निकल जाने से उसे आनन्द मिलता है । और वह आनन्द इतना भारी और गहरा होता है कि कितना ही बडा इनाम उसका न तो पासंग हो सकता है और न उसकी तह को पहुँच सकता है । सूरज को किसी ने खुश होकर एक जलती मोमवती इनाम में दी, इसे सुनकर लोग जितने हँसेंगे उससे कहीं ज्यादा हँसेंगे यह सुनकर कि वह मोमवती सूरज ने इनाम में ले ली । हाँ, सूरज मावस का चन्दा बनकर वैसा कर सकता है और मन में यही तो सिफत है कि वह मई के टोपहर के १२ वजे का सूरज भी बन सकता है और मादो की आधी रात का चन्दा भी । ईश्वर ने आदमी को उधार ले-लेकर जीने के लिए पैदा नहीं किया, वह तो तुरन्त दाम चुकाता है । यह गलत है कि वह मरने के वाद कुछ देता है । वह नेकी का बदला उसी वक्त देता है और इतना ठीक देता है कि कभी किसी को शिकायत नहीं हुई । शिकायत तो एक तरफ हमने हरेक से यही सुना कि इतना बदला मिलता है कि सँभाले नहीं सँभलता । नेकी करने के वाद नेकी करने की खुशी मिलने में इतनी ही देर लगती है जितनी दिया जलने और रोशनी होने में । आज साइंस यह दावा करती है कि चाहे जहाँ, चाहे जब मेह बरसाया जा सकता है, क्योंकि हवा में पानी सब जगह मौजूद है । ठीक इसी तरह ईश्वर की नेमतो, बरदानो, बरकतो के बादल, सब जगह सब वक्त छाये रहते हैं । नेकी करने वाले जैसे ही नेकी करते हैं कि वह बरस पडते हैं । ऐसी दुनिया में इनाम को कहाँ जगह रह जाती है ? भाडू देते-देते सफाई हाथ लगती जाती है, फिर इनाम कैसा ! पढाते-पढाते अक्ल बढती जाती है, इनाम कैसा ! तुम्हारे मुल्क वालो को कोई और मुल्क वाला मोटा-ताजा कर दे तो तुम रिवाज के मुताबिक उसको इनाम दोगे या नहीं और अगर तुम खुद उनको मोटा-ताजा कर लो तो तुम इनाम पाओगे या नहीं ? फिर और इनाम की तरफ क्यों

ऑख लगाये बैठे हो ?

इनाम हमारे लिए बला साबित हुआ है । इसको मिटाना ही होगा । अगर यह जिन्दा रहना चाहता है तो नोछावर की शकल में ही रह सकता है ।

आदमी का जमीर यानी अन्तरात्मा सच्चा है, भला है और सुन्दर है । सजा सचाई को खा जाती है, भलाई और सुन्दरता को धक्का पहुँचाती है । होड़ भलाई को खा जाती है, पर सुन्दरता में मदद करती है और सचाई को छेड़ती नहीं । इनाम सुन्दरता को खत्म कर देता है, भलाई को मैला कर देता है और सचाई में लहरे पैदा कर देता है । सबसे बुरी सजा, उससे अच्छा इनाम और सबसे अच्छी होड़ ।

होड़ चीज तो अच्छी है; पर भलाई खा जाने का ऐव तो उसमें है ही । होड़ में घमण्ड तो रहता है; पर बहुत ही अच्छी किस्म का । पर घमण्ड अन्दर-ही-अन्दर रहता है, बाहर नहीं आता । असल में उस घमण्ड का ताल्लुक अन्दर के गुणों से है । हमारे अन्दर के किसी दूसरे गुण को देखकर घमण्ड करना ही होड़ कहलाता है । यह बात न समाज के लिए बुरी है और न एक के लिए । कछवे और खरगोश की दौड़ की कहानी किसने नहीं सुनी ! कछवे ने होड़ नहीं लगाई थी, होड़ लगाई थी खरगोश ने और हारा भी वही । होड़ की असलियत क्या है, यह इस कहानी में कूट-कूटकर भरी हुई है ।

होड़ में सबसे बड़ा ऐव यह है कि आदमी बाहर अनेक काम कर आता है और इससे फौरन तो फायदा दिखाई देना है; पर आखिर में वह साग काम टोटे का काम ही दिखाई देता है । एक मशीन के जरिये मुर्गी के अण्डों से बच्चे जल्दी पैदा कर लिए जाते हैं; पर वह इतने अच्छे और काम के थोड़े ही होते हैं, जितने वह बच्चे जो टीक वक्त लेकर पैदा होते हैं ।

ऐटम-बम होड़ की ईजाद है । वह अमरीका के लिए कुछ दिन भले ही काम का साबित हो; पर सब आदमियों के वह काम का साबित नहीं हो

सकता । होड की सभी ईजादे आदमी का नुकसान कर रही है और करती रहेगी ।

होड बड़े काम की चीज़ है अगर वह कावू में रखी जा सके; मगर वह तो तुरन्त कावू के बाहर हो जाती है । होड का भलाई-बुराई से इतना ही ताल्लुक है जितना दौडने वालों को पूरव-पच्छिम से । उनको दौडने से काम । किधर ही दौडने का हुकम दे दो । होड भी किधर ही को चल पड सकती है ।

होड में एक और ऐव है—वह जल्दी ही नशीली चीज़ बन जाती है और अपने मालिक पर कावू कर बैठती है ।



सुख-सड़क के सूत्र

[१]

पहला सूत्र यह है कि हम हैं, अकेले हैं, पैदा अकेले होते हैं और मरते अकेले हैं। हम पैदा होते ही पुत्र हैं और पुत्र हैं तो हमारे कुछ फरज है। पाल-पोस परवान चढ़े कि पति है। पति के और भी बड़े काम हैं। प्यार-प्यार में पता न पाया कि कब पिता हो गए ! अब तो हमारी जिम्मेदारी ब्रेह्म बढ़ गई और वह भी अचानक। हमारी जरूरतें, हमारे चाहे अनचाहे, बढ़ती ही गईं। हमारी स्वाहिशों ~~जरूरतों से दो-कदम आगे~~ ही रहीं। सच्चे-पुत्र, पति या पिता बनने की जरूरतें कभी कम न हो पाईं और उन औहदों का फरज जैसा हम चाहते थे कभी अटा न कर पाए। हम समाज के भी हिस्से हैं, यह बात सोचने का तो हमको दम ही न मिला। एक के नाते जितना-जितना मिलता है, मिलता गया; उतना-उतना ही हमारा बोझ बढ़ता ही गया। हम सुख चाहते हैं और जी से चाहते हैं। सुख कैसे मिलता है, उस तरीके का हमें पता है, पर पा नहीं सकते।

क्यों ?

बल नहीं मिलता। ईश्वर सुखी है; क्योंकि वह नित कुछ-न-कुछ सिरजन करता रहता है। हम भी सुखी हो मकने हैं, अगर कुछ न-कुछ सिरजन करना अपना स्वभाव बना लें। हम चाहते हैं कि मशहूर हो जायें। उसमें दम अमर हो जायेंगे; पर मशहूर होने की हवेली भी हम मंगि-तांगे

के ईंट-गारे से खड़ा करना चाहते हैं। हमारा बुरा हाल है। खाहिशों हमें एक तरफ खींचती हैं और दोस्त, रिश्तेदार, समाज दूसरी तरफ। हम हैं कि बीच में रस्से की तरह खिंच रहे हैं। साथिन की जोर की चाह से मजबूर होकर हम समाज के जाल में ऐसे फँसते हैं कि जिस सुख के लिए फँसे थे, उसी को हाथ से खो बैठते हैं।

इस जाल से निकलने का एक ही इलाज है :—अपनी जरूरतों को कम करना और एक-एक जरूरत को अपनी सिरजन-कला के बल पर संभालना और उसी के जरिये पूरा करना। यह तो याद रखना ही चाहिए कि अपने को सुखी बनाकर ही औरों को सुखी बनाया जा सकता है। सुखी आदमी ही सुख बाँट सकता है, दुःखी नहीं। सुख, सुखी के बाँटने में आ सकता है, दुःखी के बाँट में नहीं। रोता या रूठा बच्चा मिठाई पाकर फँक देता है। हँसता बच्चा अपनी ओर उस फेंकी हुई मिठाई को भी गप मुँह में रख लेता है। सुख दौड़ता ही सुखी की तरफ है। सुख का आनन्द सुखी ही ले सकता है। मिठाई का आनन्द हँसते हुए बालक को ही आता है। जैसे हम हैं, वैसे और भी है। दो 'है' टकराये नहीं, इसी का खयाल रखना है।

सैकड़ों सोचते हैं कि सुखी और सुखा उनके लिए सुख सहेजे बैठे हैं। उन तक पहुँचे नहीं कि दे देंगे। जब वे उनके पास सुख नहीं पाते तो वे दुःखी होते हैं। जिस बैंक में उनका रुपया नहीं, उस बैंक पर चैक काटना रुपया नहीं ला सकता। उसी तरह जिस दोस्त को उन्होंने सुख नहीं पहुँचाया, उससे वे सुख कैसे पा सकते हैं? वे आगम पाने के लिए दोस्त बनते हैं; पर यह नहीं सोचते कि दोस्त भी तो आराम पाने के लिए उनका दोस्त बनता है। दोस्ती बदले का व्यापार है। जो दोस्त सुख नहीं लेता, वह उतना ही बीमार है, जितना वह दोस्त, जो सुख देता नहीं। जिसमें सुख देने-लेने की ताकत नहीं वह अगर उदार है तो असफल रहेगा, राज नेता है तो नाकामयाब रहेगा और अगर प्रेमी है तो अपने प्यारे का प्यार न पा सकेगा। हरेक, हरेक को दोस्त नहीं बनाता; क्योंकि हरेक, हरेक

को दोस्ती की नजर से नहीं देखता । जो एक-दो देखते हैं, उन्हीं से एक-दो, दोस्ती का नाता जोड़ते हैं । ऐसे आदमी मिल सकते हैं, जिनके सैकड़ो दोस्त हैं । पर वे वही होंगे, जिनके पास देने के लिए बेहद सुख है । सुख देने को किनके पास बहुत है ? उनके पास, जो सफल गृहस्थ है, जो अपने बूढ़े माँ-बाप, अपने घर के काम के बोझ से लदी पत्नी और अपने देवता सूरत और सीरत (स्वभाव) बच्चों को सुख पहुँचाते हैं । वही दोस्तों को भी सुख वॉट सकते हैं ।

इन्सानी हमदर्दी और मुहब्बत के नाते हमसे आदमी-जात की खिदमत चाही जाती है; देश-प्रेम के नाते हमसे देश की खुशहाली के लिए मदद माँगी जाती है; फरज और काम के नाते हमसे संस्थाओं को कामयाब बनाने के लिए कहा जाता है; पर यह नहीं बताया जाता कि हम किस नाते दोस्ती के पौधे को पानी दें ? न बताने की वजह साफ है । ऊपर के सब कामों में दोस्ती ही तो काम करती है । बस वहाँ दोस्ती का रस मटे की तरह बढ़कर इतना पतला हो जाता है कि इसमें दोस्ती का कुछ भी स्वाद नहीं रह जाता । सैकड़ो-हजारों की दोस्ती भी कोई दोस्ती है ! स्कूलों, कारखानों, दफ्तरों और फौजों में दोस्ती की इसी वास्ते मिट्टी पलीढ होती है । दो आत्माओं के मिलन से दोस्ती का रस तैयार होता है; पर आज-कल की आपा-धापी में इस मिलन की फुरसत कहाँ ? इसी वजह से मिलता है दोस्तों का भ्रमेला । जिस होड के जंजाल में हमने अपनी जिन्दगियों फँसा दी हैं, उसमें फँसे हम एक-दूसरे को कभी ठीक-ठीक नहीं समझ पायेंगे, फिर दोस्त पाने की बात तो भूल जानी चाहिए । हम लाखों की आबादी वाले शहर में रहते हैं सही, पर अकेले परदेसी जैसे ! हम पचासौ आदमियों की भीड़ में गाड़ी के टिब्बे में सोते जरूर हैं, पर ऐसे ही, जैसे एक कैदी अपनी अकेली कोठरी में ! होटलों में दासियों के साथ खाकर भी अकेले खाने का मजा ले पाते हैं ! मतलब यह कि चाहें सोयें, खायें-पीयें, खेलें-कूदें, नाचें-गायें, हैं अकेले-कै-अकेले ! यह है जिन्दगी की भवसे बड़ी सजा और बड़ी है सबसे बड़ा दुःख । दुःख इक्का-दुक्का दोस्त ही बँटा

सकता है, दोस्तों की भीड़ नहीं। दुःख रिश्तेदार ही बँटा सकते हैं, रेल के मुसाफिर नहीं। सुख भी कई गुना बढ़ सकता है, पर दोस्तों और रिश्तेदारों में बैठकर। टपटर, कारखाने, स्कूल, ये हमको ठम कहीं लेने देते हैं! न बात करने की घड़ी, न बच निकलने का क्षण, न सर उठाने का वक्त! दोस्ती के पौधे को पानी कौन दे? उसकी तरफ अँख उठाने का तो मौका ही नहीं मिलता। अब सुख मिले तो कैसे? आये तो किधर से?

हमें कमाल हासिल करने का रोग लग गया! अँख बनाने यानी अँख फोड़ने का कमाल! नाक बनाने यानी बेकार करने का कमाल! दाँत लगाने, नहीं-नहीं दाँत तोड़ने का कमाल! एक लपज में, जेब काटने का कमाल! और यही आजकल की साफ-सुथरी आत्माओं की मॉग है। तब दोस्त बनाने की किसे जरूरत! रहो अकेली कोठरी में, खेलो ताश का इक्कल-खेल। याद रखो, कमाल, शोहरत, दौलत, कोरे घमण्ड नहीं है; पर तुमने घमण्ड बनाकर उनको अपनी सुख की सड़क के बीच में डालकर सल्ल बना लिया है। चलो अब इन कॉटो पर और बीनो पदवियों की कंकरियों, नाम के ठीकरे और सोने-चाँदी के तिनके।

दोस्तों, रिश्तेदारों की खातिर अगर पदवियाँ छोड़ी, नाम फेंका और पैसा तर्क किया तो भी काम न चलेगा। इसके बिना आजकल वहाँ भी तुमको कोई न पूछेगा।

तब ?

जगाओ अपने भीतर बैठा कलाकार, जिसे कमाल के रोग ने अपने पाँव तले टबा रखा है।

समाज को सुगढ़ बनाने की समझ थोड़ी-बहुत सबमें है। पर उसे मौका तो मिले, उसे वैसा करने की आजादी तो हो, उसकी तरफ कोई अँख उठाकर देखे तो, वह खुद भी किसी की तरफ अँख उठा पाये तब तो वह भोड़ी सभ्यता में अपने हिस्से की सुघड़ाई पैदा कर सके। जो सच नहीं वह सभ्यता नाम वाली कोई और चीज है, सभ्यता नहीं। जो सुन्दर नहीं, वह भी सभ्यता नहीं और जो सुखदाई नहीं वह तो सभ्यता हो ही नहीं सकती।

माँ बनकर ही औरत सुन्दर होती है, सच्ची होती है, सुख देने वाली होती हैं। बाप बनकर ही आदमी सुन्दर होता है, सच्चा होता है। बाप से हमारा मतलब है बच्चों को पालने पोसने वाला बाप। माँ-बाप बनना माने आगे चलने वाला बनना, हाठी बनना, सुख इसी में है। अन्धे को राह पर लगाकर पाँच बरस का बालक भी बाप के सुख का मजा ले लेता है। अन्धी, बुद्धी भिखारिन का गिरा पैसा ढूँढ देकर पाँच बरस की लडकी भी मन में माँ-पने की गुदगुदी पा लेती है। आदमी का अपना भला इसी में है कि वह काबलियत से काम ले और समाज का भी भला इसी में है।

मिल-युग यानी कारखाने की खूबत ने सबसे बड़ा नुकसान यही तो किया है कि इसने औरत आदमी की काबलियत को कुचल डाला है और जो इसने सभ्यता-देवी को काना, बूचा और लूला-लँगडा बना दिया है। सुन्दर सभ्यता को भोड़ी, भद्दी, ब्रेकान, पूँछ वाली भैस में बदल दिया है। आज इक्का-दुक्का वह काम कर ही नहीं सकता, जिसको वह सबसे अच्छा करना जानता है। करना उसको वह पडता है जो मिल-मालिकों और कारखानेदारों को उससे कराना है। जी-लगती बात की, कि उस पर फटकार पड़ी, और फौरन उसे रोका गया। और अगर उसने कुछ इस वक्त तक बना डाला तो तोड़-मरोड़कर ज्यो-का-त्यो कर दिया। उसको वही करना चाहिए, जो उसके मालिक को ठीक जँचे ! एक आदमी को उत्साह का काम दे दिया जाता है और फिर उससे कहा जाता है कि तुम वह भिखाओ, जिसका सिखाना तुम ठीक नहीं समझते, या बुरा समझते हो ! विज्ञानी बम बनाना मानव-जाति के भले की बात नहीं मानता, पर उसको बम बनाने के काम में ही जोत दिया जाता है ! कलाकार से तस्वीर बनवाई जाती है, पर लडाई की इश्तिहाग्वाजी की तस्वीर ! मूर्तिकार से मूर्तियाँ बनवाई जाती हैं; पर लुट्टे की ! लिखने वालों से कितने लिखवाई जायँगी, अखबार-नवीसों से अखबार लिखवाये जायँगे, पर इनमें यात वह रहेगी, जिसको लिखने वाला जी से नहीं चाहता ! टकसाल-ज्वालामुखी से निकला चाँदी

का लावा इतना जोरदार नहीं होता जितना छापेखाना-ज्वालामुखी से निकला सीसे का लावा। मतलब यह कि सभ्यता के नाम पर आज सब-के-सब उस काम के करने में लगे हुए हैं, जिसे जी से वे बुरा भी समझते हैं। और दूसरी तरफ सब-के-सब उसे माने जा रहे हैं, जिसको उनके जी ने नहीं माना। सभ्यता की ऐसी उपज में जिसे सुन्दरता दिखाई देती है, वह सचमुच सुन्दर है, हम तो यह कहने की भी हिम्मत नहीं कर सकते।

जो हम अपने मामूली साधनों से देखें, सुनें, सीखें, उनके पकड़ने की कोशिश के बाद, जो कुदरती तौर पर हमारे हाथ लगे, वही सुन्दर होता है और उसी का नाम सुन्दरता है। सच्ची खूबसूरती उसी में मिलेगी, पर उसको तो जैसे के बल पर कारखानेदार और जबरदस्ती की बनी हुई सरकारें आये-दिन बेपरवाही से कुचल-कुचल मिट्टी में मिला रही हैं। ऐसे काम करा रही हैं कि आगे वह सुन्दरता कभी पनप ही न पाये। और जो चीज बदले में दे रहे हैं, वह है भूठी, भुलसी, भुँभलाई सुन्दरता, जिसकी हमारे जी से जुगत नहीं जुटती। हम करे क्या? उसमें हमारे सच्चे 'स्व' की सूरत कहीं नहीं सूझ पड़ती। हम उसे अपनाएँ तो कैसे अपनाएँ?

समाज कुछ चाहता है, हमारी अपनी आत्मा कुछ। दोनों एक कोना बनाकर चल रहे हैं और हर सैकिड एक-दूसरे से दूर होते जा रहे हैं। अब हम क्या करे? क्या अपने मन की करे? क्या समाज के ही मन की किए जायें? क्या कोई समझौता कर ले, जिससे दोनों के सुख की राह निकल आए?

मन की न करना माने अपने को कुरवान करना और समाज को नुकसान पहुँचाना। समाज की न करना माने समाज को कमजोर बनाना और अपने ऊपर भी आफत बुलाना। न अपने को कुरवान करो, न समाज को। बीच का रास्ता ठीक रहेगा। इसी में दोनों का भला है।

सिर्फ जीने के लिए नहीं, अपने 'अहं' के साथ जीने के लिए हमें यह करना चाहिए ही कि हम अपने को विकसाते रहे और समाज के सामने पेश करते रहे। जीने का यह मतलब तो होता ही आया है कि हम अपने पीछे

आपनी औलाद छोड़ जायें। खाने-पहनने, सोने की तरह औलाद होना जरूरी है। हरेक के मन में यह बात अच्छी तरह जमा देनी चाहिए कि उसका और समाज का, दोनों का ही जीता रहना जरूरी है। हम में से कोई अगर ज्यादा काबिल बनने की जरूरत रखता है, वह वैसा जरूर बने। पर वह यह खयाल रखे कि उसकी वह काबिलियत उसकी निरी अपनी न हो। उसकी जिन्दगी के सारे कामों पर उसका असर पड़े जिससे सारे समाज को फायदा पहुँचे।

आजकल की हवा में किसी भी बात पर हमारा कुछ भी बस नहीं रह गया। यही वजह है कि हम जिन्दगी के मामूली-से-मामूली कामों को भी भले आदमी की तरह नहीं कर सकते। हम भले होते हुए भी अपने कामों को भले आदमियों की तरह नहीं कर सकते। कारखाने के मालिक और इस तरह हमारे भी मालिक हमको भला आदमी देखना ही नहीं चाहते। मालिक को पैसा चाहिए, नाम चाहिए, ताकत चाहिए और उसकी इन खाहिशों की बेटी पर हमारी भलाई की कुरबानी होनी ही चाहिए। और यही है आज की सभ्यता ! जिन कामों के जरिये हम भले बन सकते थे और समाज को ऊँचा उठा सकते थे, उन्हीं कामों के जरिये आज हम अपने मालिकों के लिए पैसा कमाने में जुटे हैं। खूब ! हमारी राह का यह कौटा तो हटाना ही चाहिए। इसके हटे बिना हम दोस्ती-जैसी नायाब चीज नहीं पा सकते।

अपने सर पर से मालिक हटाकर, अपने मालिक आप बनकर, अपना खाना-कपड़ा आप जुटाकर ही हम सुख पा सकते हैं और सुख पहुँचा सकते हैं। पूँजीपति हमें पनपने न देंगे। हम पिसते रहेंगे और यह जान तक न पायेंगे कि हम पिस रहे हैं। आदर्श बदल कर, नई कथाएँ गढ़कर, रस्म-रिवाजों को कुचलकर ही हम सुखी हो सकते हैं और यही करना चाहिए। ऐसा करना ही मुख-सड़क के सल्ल ममेटना है।

[२]

दूसरा मूल है कि हम जानदार हैं। खाना, कपड़ा, मकान हमें चाहिए

ही । इन तीनों के हम पैदायश से हकदार है और थोड़ा-बहुत ये तीनों हमें मिलते भी रहे हैं । बड़े होकर हमको इस तरह रहना है कि हम अपनी यह तीनों जरूरते आसानी से पूरी करते रहे । मेहनत से हम जी नहीं चुराते, पर मेहनत ही मेहनत के हम नहीं बनना चाहते । हम कोरे जिस्म नहीं है । हममें आत्मा है, जो अपनी खुराक चाहती है । वह अपनी खुराक मुँह के जरिये नहीं खाती, मस्तक के जरिये खाती है । उसकी खुराक हाथों से नहीं जुटाई जा सकती । कान, आँख, नाक, जुवान से जुटाई जाती है । हाथ-पैरो को आराम मिलाने से आत्मा का कुछ पेट भरता है । आत्मा का पेट भरने से हाथ-पॉव खुश होते है । उनमें जान आ जाती है और वे पहले से ज्यादा काम के काबिल हो जाते है । इसलिए और सिर्फ इसलिए हमारे कौमी पैसे का बँटवारा तीन कामों को ध्यान में रखकर किया जाय तो हमारी बहुत-सी जरूरते मिट सकती है और ज्यादा-से-ज्यादा ख्वाहिशें पूरी हो सकती है और आत्मा को भी खुराक मिल सकती है । वह तीन बातें यह है:—

(१) हमें अपनी जरूरतों को पूरा करने के लिए दूसरों का मुँह न ताकना पड़े, यानी स्वाधीनता, आत्मा-निर्भरता, अपने पावों पर आप खड़े होना ।

(२) ऐसा काम मिल सके, जिसमें हमारा जी लग सके ।

(३) इन चीजों का पूरा पक्का टिकाऊ काम । ध्यान रहे कि हमको अपनी जरूरतें और ख्वाहिशें हीं पूरी नहीं करनी । हमें ऐसी हवा पैदा कर देनी है, जिसमें हमारी आत्मा भी सुखी रह सके । इन तीन बातों के बिना हम दुनिया की सारी चीजों से घिरे रहकर भी दुखी ही रहेंगे ।

एक आदमी जो अपने वाप से लाखों का धन पाता है उसकी तसल्ली उतने से क्यों नहीं होती ? तसल्ली यों नहीं होती कि उसको इस बात की पक्काहट कहीं है कि वह लाखों का धन उसके पास ही बना रहेगा और यह कि धन न रहने पर वह अपनी जरूरत की चीजें अपनी मेहनत से कमा सकेगा । उसे जी चाहा काम मिलने तक की भी पक्काहट नहीं है । यही वजह है कि वह लाखों होते करोड़ों कमाने में लग जाता है । वह अपनी

आँखो देख रहा है कि जरूरतें पैसे से ही पूरी होती है और हर कोई पैसा कमाने में ही लगा है। रह गये वे, जो गरीब घर में पैदा हुए हैं। वे तो पैसा कमाने में लगते ही हैं और पैसा कमाने के माने होते हैं, अपने को वहाँ फँसाना, जहाँ जाने को जी भी नहीं चाहता। जो हमारा मुल्क हथिया ले, वह हमारा दुश्मन हुआ। पर पैसे की खातिर हमको उस दुश्मन की भी नौकरी करनी पड़ती है। उस नौकरी में सुख कैसा? और आराम कहाँ? पेट को लोग पापी कहकर कोसते हैं सही, पर पेट पापी है नहीं। पेट को पैसा कमाकर भरना पाप है। अनाज उगाकर उस अनाज को खाना और फिर पेट भरना पुण्य है, धर्म है।

अब रह गए वे लोग जो गिनती के लिहाज से बहुत थोड़े हैं; पर उसूल के बड़े पक्के हैं और ऊँची जिन्दगी बिताना चाहते हैं। वे आम लोगों के रास्ते चलना नहीं चाहते और यों अपना असली सुख खोना नहीं चाहते। पेट की खातिर नौकरी करना उनको नहीं जँचता। बड़ी-से-बड़ी नौकरी में पक्काहट है और न छोटी-से-छोटी में। नौकरी हो और जी चाही हो; यह कभी हो ही नहीं सकता। नौकरी के बदले जो पैसे मिलते हैं वह उस काम के हिसाब में बहुत कम होते हैं, जो हम करते हैं। वह असल में उस स्वाधीनता के पैसे होते हैं जो हम जाने-अनजाने नौकरी करते ही मालिक के हाथ बेच देते हैं। स्वाधीनता को ही सुख नाम से पुकारा गया है। फिर सुख बेचने की बात ऊँचे दर्जे के आदमियाँ को कैसे पसन्द आ सकती है और वे कैसे स्वाधीनता बेचने वालों की राह चल सकते हैं?

आदमी दो तरह के होते हैं—एक मोल-पसन्द और दूसरे तोल-पसन्द। दुशाला मोल में भारी होता है और कम्यल तोल में। आज की दुनिया तोल-पसन्द बनी हुई है। तोल-पसन्द लोग खुल्लम-खुल्ला आदमी-जात की मेहनत को हड़प रहे हैं और आदमी-जात लुटती हुई भी आर्थिक गुत्थी का सुलझाव नहीं समझ पा रही है। तोल-पसन्दों के गले वह बात उतर ही नहीं सकती। तोल-पसन्द गिनती में थोड़े हैं; पर भेड़-चाल चलने वाले रूडि-पसन्द, तोल-पसन्दों के साथ हैं। इससे उनकी तादाद बहुत हो

जाती है। वे सब मिलकर रूढ़ि का राग अलापने लग जाते हैं और वे ही हर बुरी चाल को चलते रहने की बात जी से चाह सकते हैं। पर जिन आदमियों को अपनी राह अपने-आप बनाना आता है, वे रूढ़ि के मिट जाने में ही अपना और समाज का भला मानते हैं और मानते रहेगे। आज के बाजार का निचोड़ है : बेचो और खरीदो। यही है आज के तोलो-पसन्दो के मगज की सूझ। यही है आज की आर्थिक-नीति और इसी का है जगह-जगह प्रचार। इस नीति में सुख कहाँ ? सट्टा और सुख अंधेरे-उजाले की तरह एक जगह रहने वाली चीज़ें नहीं। सटोरिये को आत्म सुख ठुकराते फ़िफ़क ही नहीं होती। सटोरिया सिर्फ़ खाने और कमाने को काम समझता है। इतना ही नहीं, वह उसको बहुत ऊँचे दरजे का काम समझता है। सटोरिया नई व्यापार-नीति के नीचे दबा हुआ यह मानता रहता है कि वह व्यापार-नीति को अपनी पीठ पर सँभाले हुए है। हमें चाहिए सुख और सुख भोगने की समझ। इस सुख और सुख भोगने की समझ की खातिर हम सारे कारवार में उलट-फेर चाहते हैं और सारी तिजारत की शक्ल बदली हुई देखना चाहते हैं।

जब तक हम दूसरे के बताए काम में लगे रहेगे और थो जब तक हम दूसरो से पैसा पाते रहेगे, हम वैसे रहना न सीख सकेंगे, न रह सकेंगे, जैसे हम रहना चाहते हैं। और जब तक हमको ठीक रहना ही नसीब नहीं, हम आजाद कहाँ ? सुख-सडक का यह दूसरा कौटा हमें हटाना ही होगा। पहले हम राजा-नवानों के गुलाम थे, अब सेठों के, कारखानेदारों के है। सम्यता भले ही तोल-पसन्दों के लिए है, हिरन की चाल दौड़ी चली जा रही है, हमारे लिए तो वह कछुए की चाल ही है। रूढ़ि-रानी के रथ के बैल हम, कानूनी देवी के किकर हम, कण्ट्रोल देव के कहांर हम, सैन्सर वहेलिये के शिकार हम ! क्या इसी का नाम सम्यता है ? तोल-पसन्द जुटे हैं भाइयो के लूटने और गुलाम बनाने में। उनको फुरसत कहाँ कि वे यह सोचें कि सुखी जीवन क्या है ?

भूसा और भूसी के लालच गाय दूध दुहा लेती है, अपने बच्चों को

गुलामी के जाल में फँसा देती है। घास-दाने की खातिर घोडा पीठ तुडवाता और छाती छिलवाता है। दूसरो के बस में आना, दूसरो के भरोसे रहना, अपना पैदायशी हक—आजादी—खोना है और फिर सुख तो खो ही जाता है। भूसी के बदले दूध लेना और घास के बदले सवारी यह इन्साफ नहीं है। यह ना इन्साफी से भरा सौदा है। आज के अर्थ-शास्त्र की जड में यह नामुनासिब सौदा मौजूद है और उसी सौदे के बल पर तै की जाती है तन-ख्वाहे और चीजों के दाम। कानून यह है कि लेन-देन उसी हिसाब से होता है, जिस हिसाब से लेन देन करने वाले दोनो दल, लेन-देन करने से इन्कार करने में आजाद हों। यानी अगर बेचने वाले को बेचना ही है और खरीदने वाले को खरीदना ही है तब तो दाम ठीक लगेंगे। और अगर बेचने वाले को बेचना ही है और खरीदने वाले को खरीदने की जरूरत नहीं तो बेचने वाले को दाम पूरे नहीं मिलेंगे। या अगर खरीदने वाले को खरीदना ही है और बेचने वाले को जरूरत नहीं तो खरीदने वाले को दाम बहुत ज्यादा देने पड़ेंगे। आज दुनिया में ऐसी हालत पैदा कर दी गई है कि बेचने और खरीदने वाले दोनो के ही दोनो कभी पूरे आजाद नहीं पाये जाते। कहीं खरीदने वाला मजबूर है तो कहीं बेचने वाला। कारखाने वाले, कोठी वाले, सब तोल-पसन्द होते हैं। ये गिनती में बहुत कम हैं, पर मुल्क पर वे इतने छा गये हैं कि उन्होंने अपने-आपको बेचने-खरीदने के लिए हर तरह आजाद बना लिया है और खुला हुआ कर लिया है। और दूसरी तरफ हैं हम, जो हर तरह से गुलाम और जकड़े हुए हैं। एक बड़ी मुश्किल खड़ी हो गई है। या तो हम तोल-पसन्द बने या उनकी गुलामी करें। मोल-पसन्द बनने की सोचे तो कैसे सोचे ? आजाद हुए बिना मोल-पसन्द बनना कैसा ? इस वक्त सारी ताकत तोल-पसन्दों के हाथ में है। वं हमें चाहे जहाँ लगाएँ, चाहे जो काम ले, चाहे जिस तरह हमारा उपयोग करें। अब हमें यही चाहिए कि हम जोर लगाकर इतने आजाद तो हो ही जायँ कि अगर हमको उनकी नौकरी ही करनी पड़े तो हम अपनी शर्तों तो उनसे मनवाएँ, यानी हम यह काम करेंगे, इतना काम करेंगे और

इतना लेंगे ।

बड़ी बात तो यह है कि हम मोल-पसन्दों की तोल पसन्दों को हर घड़ी बहुत ज़रूरत रहती है। उनके कारखाने हमारे बगैर एक मिनट नहीं चल सकते, पर हमको अपनी ताकत का पता नहीं। हमारी इस अज्ञानकारी से वे खूब फायदा उठाते हैं। अगर आज हम हिम्मत करके कह दें कि हम तुम्हारा काम नहीं करते तो कल कारखाने वाले हमारे वश में आ जायेंगे। और इतने ही वश में आजायेंगे जितने आज तक हम उनके वश में थे। असल में हम उनके वश में थे नहीं, हम तो सिर्फ़ वैसा समझे हुए थे। वह सचमुच हमारे वश में हो जायेंगे और वह यह बात आज भी जानते हैं। पर यह सोचने-समझने से नहीं होगा, यह होगा अपने को थोड़ा-बहुत अपने पाँव पर खड़ा करने से। यह कावलियत हम में तब ही आ सकेगी जब यह सचाई हम अपने गले उतार ले कि पहले एक, पीछे समाज, और यही सच्ची बात समझ की है और अबल की है। एक-एक बूँद से तालाब बनता है, यह सच है। पर यह भी सच है कि एक-एक गन्दी बूँद से गन्दा तालाब बनता और एक-एक साफ़ बूँद से साफ़ तालाब बनता है। सभ्यता आदमी के लिए है आदमी सभ्यता के लिए नहीं। तुम्हारी समझ में तुमको जो काम सब से अच्छा और मन-जँचता मालूम हो, तुम-उसी काम में लग जाओ। उसी के ज़रिए तुम एक-न-एक दिन इस काबिल बन जाओगे कि दुनिया के सभ्यता-भण्डार में अपनी देन छोड़ सको।

जिस आर्थिक निज़ाम में हमें ज़रूरी आराम की चीज़ें न मिलें, जिसमें हमें अपनी मरजी का काम न मिले, जिसमें हमें यह भी हक़ न हो कि हम उस काम के करने से इन्कार कर सकें जो हमारी मरजी के खिलाफ़ है—वह निज़ाम कैसा ? वह न हमारे काम का, न समाज के।

सभ्यता दिन-पर-दिन भोड़ी होती जा रही है। वह सुघड़ तभी हो सकती है जब हम उनके लिए एक रास्ता निकाल दें जो ऊँची जिन्दगी बिताना चाहते हैं। उनको अपनी कामनाओं के विकास और प्रकाश का पूरा मैदान

मिलना ही चाहिए । तब ही तो वह दुनिया को आगे बढ़ने का रास्ता दिखा सकेंगे ।

तोल-पसन्दों को पीड़ियो, सदियो, युगो तक यह न सूझेगा कि सुख को टाले जाना बुरी चीज है । उनके अपने लिए भी बुरी चीज है । तो क्या हम सुख का तरीका अपनाये ही नहीं ? हमें पता है कि नये और ऊँचे विचार जल्दी जगह बना लेते हैं । यह दूसरी बात है कि वह देर से फलते और फूलते हैं ।

जैसे-जैसे हमारा रहन-सहन ऊँचा-ऊँचा उठता चलेगा-वैसे-वैसे ही हम सुखी होते चले जायेंगे और वैसे-वैसे ही सभ्यता का भोडापन कम होता चला जायगा ।

सुख-सडक का आर्थिक सूल हटाना ही होगा, अगर सच्चा सुख पाना हमने तय कर ही लिया है ।

[३]

तीसरा कौटा है हमारा तन । हाड-मास का कहकर उसे दुग्दुराने से काम न चलेगा । खून-पीव की थैली बताकर उसकी खिल्ली उड़ाने से भी कुछ हाथ न आयेगा और नाक सिकोडकर, मुँह विचकाकर 'शु-मूत की ठिलिया' कह डालने से भी उससे पीछा न छूटेगा । जीते रहने के लिए उसमें कुछ डालना ही होगा और निकालना भी होगा । टौडना-भागना भी होगा और लेटना-सोना भी । याद रहे, बेपरवाही से डालने-निकालने, काम करने और आराम करने से जीते रहने का सुख न मिलेगा । सॉस न लेने की बेकायदगी से जब तन तिलमिला उठता है तब खाने-पीने या सोने-जागने की बेकायदगी से वह क्यों न घबरा उठेगा ? और आज हो क्या रहा है ? न तन को ढंग की खुराक है, न ढंग का काम, न ढंग का आराम । जो उमको दिया जाता है उसका नाम तनख्वाह । नाम बहुत सुहाता है, पर जो उसके नाम पर मिलता है वह है बेहद त्रिना । तनख्वाह के माने हैं तन-चाहा यानी मन-चाहा, और मिलता है मरत, सग्या, सप्रेत रूपया । न हाथ से दूटे, न दौत में चबे । या फिर मिलता है बुरी तरह स्याही से लियडा कागज

का नोट । सुना है, उसे बकरी-गाय खाती है । आदमी खाते नहीं सुना । अनजान बालक भी उसे कभी-कभी मुँह में दे लेते हैं, पर ऐसा करते ही तुरन्त उनकी माताओं को दौडना पडता है और मुँह में से निकालना पडता है । मतलब यह कि तनख्वाह के नाम मिलने वाली चीजे तन में डाले जाने काबिल नहीं होती । इतना ही होता तो बुरा न था । पर उन ठीकरो और कागज के टुकडो ने खाने-पहनने की चीजो को ऐसा नचा डाला है कि कुछ तो इनको बेहद खसोट लेते हैं और बहुत-से त्रिलकुल थोडा और कभी-कभी कुछ भी नहीं पाते और खिसियाकर रह जाते हैं ! या फिर इन्ही ठीकरो और कागज के टुकडो के घेरे से कुछ तो उस चक्कर में चट जा पहुँचते हैं और बहुत-से प्रयत्न करके भी वहाँ नहीं पहुँच पाते ! नतीजा इसका अब यह हुआ है कि कुछ को छोडकर सभी तन को तपा रहे हैं । आराम नहीं पा रहे हैं । सबको जो थोडा-बहुत मिलता है, उससे उनको सुख नहीं मिलता । दुःख ही मिलता है, क्योकि उनको सिखा दिया गया है कि इस तरह रहना चाहिए और जब बीमार पडो तो डाक्टरों के पास जाना चाहिए । पेटेण्ट दवाइयों खानी चाहिए ।

और न जाने क्या-क्या करना चाहिए । हमे अपने तन के बारे में न जाने क्या-क्या बातें बता रखी हैं । वह बताने वालों के लिहाज से चाहे कितनी ही सच क्यो न हो, हमारे लिए वे त्रिलकुल बुरी और गलत साबित हो रही हैं । उनमें से कुछ तो वही हैं, जो कथा-पुराणों में लिखी हैं और हमारे पुरखों से चली आ रही हैं और बहुत-सी वैसी ही और गड़ ली गई हैं । जिनको खाना-पीना, पहनना-रहना ठीक-ठीक नहीं आता उनको धडाधड लूटा जा रहा है ।

तन को ठीक रखने की ठीक राह बताने वाली किताबों की कमी नहीं, पर उनको पढने की तकलीफ गवारा कोई नहीं करता और उनका वैसा शोर भी नहीं मचाया जाता, जैसा भूठी बातों का; क्योकि वे कारखानेदारों के लाभ की चीजे नहीं । इतना ही नहीं, कारखानेदार उन अच्छी किताबों की यह कहकर कि इनके लिखने वाले वी० ए०, एम० ए०, या एम० डी०, नहीं

थे, आये-दिन बुराई करते रहते हैं। वह यह चाहते ही नहीं कि हम सीधे रास्ते पर आ जाएँ। वह तो हमको अपने रास्ते पर चलाकर ही हम से काम ले सकते हैं और हमें लूट-खसोट सकते हैं। जब तक हम कारखानेदारों के सिखाये काम सीखते रहेगे तब तक हम उन्हीं के कारखाने में काम करते रहेगे। जब तक उन्हीं के उठाये-बैठे हम उठते-बैठते रहेगे और उन्हीं के जगाये-सुलाये जागते-सोते रहेगे तब तक हम यह सोच-समझ ही या तय कर ही न पायेंगे कि हम कैसे रहे, कैसे खायें, कैसे पहने, कैसे काम करें और कैसे आराम करें ?

जिन्दगी का सच्चा सुख पाना है तो ये 'कैसे' जरूर तय करने पडेगे।

आज भी सभ्यता कारखानेदारों की दासी बन गई है और यही सभ्यता हमारी माँ बनी हुई है। इसने खिला-खिलाकर हमारे पेट खराब कर दिये हैं। किसी को क्रब्ज है तो किसी को हज्म ही नहीं होता। किसी को बहुत कम भूख लगती है, किसी को लगती ही नहीं। इस माँ ने न जाने हमें क्या खिलाया है कि हमारी नसे सुन्न हो गई है। हमारा बदन गिरा जाता है। इससे हम उठते ही नहीं। हमें ही नहीं, हमारी नसल को बीना और बुज्जदिल बना दिया है। हमारे लिए आये-दिन यही माँ अस्पताल, दवाखाने, कोठीखाने और न जाने क्या-क्या खोलती जाती है। सुख पाने के लिए जितना दम चाहिए वह तो हम मिलों की भट्टियों में फूँक चुके या दफ्तरों की कागजों से लदी मेज-रूपी वेदी पर बलिदान कर चुके ! जो कुछ बँचा है वह दफ्तरों और मिलों के काम करने के लिए जरूरी है, नहीं तो वह दम भी इस सभ्यता-डायन ने चूस लिया होता।

हमें भूख नहीं है। सभ्यता-माँ कहती है, "खाओ, बेटा, खाओ। देखो न, मिल की सीटी बज गई है और दफ्तर की घंटी हों गई और हॉ, स्कूल का टैम हो गया। हॉ, देखो कुछ साथ ले जाना न भूलना।" कितनी प्यारी माँ है ! इसको तोल-पसन्दों ने डायन बना दिया है, इसको यह पता ही नहीं ! मोल-पसन्दों से इसे पाला नहीं पडता और पढ़े भी वो सुन लेगी, उनकी तारीफ कर देगी; पर उनके बताये रास्ते पर चलेगी

नहीं। तोल पसन्दो के सफेद ठीकरे और लिथडी धज्जियाँ इसकी आँखों में ऐसी बस गई है कि अगर कोई इसको दस सेर दूध देना चाहे, या दस धज्जियाँ तो यह धज्जियाँ लेना ही पसन्द करेगी। दस सेर दूध को भ्रमण्ड समझेगी, भ्रमण्ड ! वाह री मों !

दुनिया-भर के समझदार कहते हैं, “धीरे-धीरे खाओ, चबा-चबाकर खाओ।” यह मों है कि कहती है, “बेटा जल्दी-जल्दी खाओ। काम पर जाने का वक्त हो गया है। सीटी बज गई है। तोप छूट गई है।” घोड़े घुडसाल में जल्दी में होते हैं; पर इतनी जल्दी में नहीं। यही हाल बैलों का बैलखाने में। और लीजिए, “जल्दी खाओ, सिनेमा जाना है। क्रिकेट का वक्त हो गया है, फुटबाल का मैच शुरू हो गया होगा” वाह, कितना खयाल है इसको हमारे खेल का और सुख का !

पॉव से खुदी खॉड खाकर जितनी गरमी और तन्दुरुस्ती हम पा जाते थे, उतनी आज हम हाथ से न लुई हुई दानेदार शक्कर से नहीं पा रहे। न सही, वह हमें बीमार न डाले तो ही हम उसके गीत गा दे, पर वह अपनी उस आदत को भी नहीं छोड़ पाती। नानबाइयो का पकाया हुआ, खानमामाओ का परोसा हुआ, डाक्टरों का चखा हुआ, नौकरो के साफ किये बरतनो में खाकर हम समझ बैठे हैं कि हम बढ़िया, खालिस, पवित्र, आयुकेदार, तन्दुरुस्त बनाने वाला खाना खा रहे हैं। क्या कहना है ! हमको पता ही नहीं कि गेहूँ की जान निकाल दी कारखाने की भभकती चक्की ने, गन्ने की जान निकाल दी कारखाने के दहकते कोल्हू ने, और दूध की जान निकाल दी सिर-चकराई कारखाने की रई ने। कारखाने के क्रीम-सने विस्कुट और फैशन की दूसरी चीजें, डाक्टरों, हकीमों और अत्तारों के पास पहुँचाने के पासपोर्ट हैं। क्यों ? जिन्दा मशीन के पुर्जे बिगड़ जाने पर उनकी मरम्मत तो करानी ही पडती है।

हजारों में से कोई एक रसोइया ही खाना बनाकर मों की तसल्ली कर सकता है। जिसको बचपन से ही खाना बनाना आता है वह भी वही रसोइया हो सकता है, जो घर का ही आदमी हो और हर तरह से सुख-दुःख

का साथी बन गया हो । खाये एक घर, बनाये दूसरा घर; खाये एक मुहल्ला, बनाये दूसरा; खाये एक मुल्क, बनाए दूसरा; यानी खपाये कोई और पैदा करे कोई; तब तो किसे तसल्ली हो सकती है ? सब समझदार कहते हैं कि ताजा पिसा आटा खाओ, पर यह सभ्यता-मॉ सात समन्दर पार आटा पिसवा कर मॅगवाती है और हमें खिलाती है और बड़ी बात यह कि उसी में तसल्ली मानती है ! आज की सभ्यता एडी-चोटी का जोर इस बात में लगाये हुए है कि अनाज, आटा, रोटी, फल, दूध, दही जैसी चीजें बरसो रह सकें और सड़ने-गलने न पाये । तब इसी काम में जुटा है, मन और मस्तक भी यही करते रहते हैं, सारी साइंस इसी काम में लग गई है और लुप्त यह कि इसकी जड़ में कोई भलाई नहीं है ! है तो यह बुराई कि सड़ी चीजें भी बिक जाया करे । विक्री का है इनको मर्ज, स्वाद, जायके, लज्जत, ताकत से इनको क्या गरज !

हम सवा-सौ की जगह पच्चीस पर उतर आये हैं और वह पच्चीस भी हमारे ढॉत उखड़वाने, ऑल जॅचवाने और टवा खा-खाकर जीते रहने में गुजरते हैं ।

भाड-फूँक को भाड फेंका, जन्तर-मन्तर की जड़ काट दी, यह सब तो ठोक किया; पर यह क्या किया कि उनकी जगह दे दी टवा टारू को । हकीम, डाक्टर, वैद्य, अतार सभी जानते हैं कि वे कुछ नहीं करते । जो कुछ होता है—परहेज, आगम, मुनासिब खाने से । बीमारी का इलाज है ठीक-ठीक रहना न कि ठीक-ठीक टवा करना । पुराने ओम्हाओं को मिटाया तोल-पसन्दो यानी बहुत पढे-लिखे और बहुत पैसे वालो ने । और डाक्टरों, हकीमों और वैद्यों को मिटायेगे, मोल-पसन्द यानी समझदार, जानी, भले आदमी, बेलौंस, त्यागी, नंगे, भूखे—भिखमंगे नहीं ।

पहले भूत आया करते थे । यह घर में किसी एक को ही छेड़ा करते थे, सबको नहीं । एक को ही क्यों, यह कोई नहीं जानता था । न जानता सही, ओम्हाजी यह जरूर जानते थे कि वह भूत कहीं किस पीपल के पेड़ पर रहता है और उसको क्या देने से वह जा सकता है ! वही उसको ले-देकर

भगा दिया करते थे । इस जमाने में वे भूत भागे नहीं कि जर्म्स (कीटाणु) नाम के बहुत छोटे-छोटे भूतो की तरह से ही अँखो से न दीखनेवाले उनकी जगह आ डटे । वे भी घर में किसी को नहीं छोड़ते, कभी किसी को, तो कभी किसी को । मार्के की है एक बात । भूत भी उसको ही छोड़ते थे, जो ठीक-ठीक खाता-पीता नहीं था, ठीक-ठीक नहीं रहता-महता था । जर्म्स भी ऐसे ही को लगते हैं । आजकल के डाक्टर यह जानते हुए भी नहीं जानना चाहते कि ये जर्म्स नाम के भूत बदन में टाखिल होने से नहीं रोके जा सकते, भले ही साइंस कितना ही जोर क्यों न लगा ले और कितनी ही जर्म्समार दवाएँ क्यों न तैयार कर ले ! हाँ, ठीक-ठीक खान-पान और रहन-सहन वाले का यह जर्म्स कुछ भी नहीं विगाड सकते । जो जानदार चीजे खाते हैं, मुनासिब तरीके पर रहते हैं, आराम करते हैं, उनमें ठीक-ठीक खून बनता है, ठीक ठीक रग-पुट्टे बनते हैं, ठीक-ठीक चरबी-मज्जा बनती है, ठीक-ठीक हड्डी-पसली बढ़ती है । उनमें जाकर जर्म्स परेशान ही होते हैं और पिट-कुटकर किसी रास्ते नौ-दो-ग्यारह हो जाते हैं ।

जो काम हमसे लिये जाते हैं, वे सुख देनेवाले काम ही नहीं थका, देने और उबा देनेवाले भी हैं । मन उनमें लगता नहीं, लगाना पडता है । जहाँ हम काम करते हैं । वह जगह सुख की नहीं है । न वहाँ असली हवा पहुँचती है, न असली रोशनी । तन्दुरुस्त रखने वाली धूप की तो वहाँ पहुँच ही नहीं । हमारे काम में हमारे रग-पुट्टे काम नहीं करते या कोई एक-दो काम किये जाता है, तो बाकी बेकार रहते हैं । हम इज्जत की भट्टी के सामने खड़े कर दिये जाते हैं । इसलिए नहीं कि जाड़े का मौसम है बल्कि इसलिए कि हमारा काम ही इज्जत में कोयले भोकने का हो गया है ! हमारे लिए दिन में किसी वक्त जून का महीना आ सकता है, और किसी वक्त भी दिसम्बर । कभी हम गिनती ही लिखे जा रहे हैं तो कभी हरफ ही । मानो हम फिर से पहली क्लास में टाखिल कर दिये गये हैं ! मतलब यह कि हमें कोई आदमी समझता ही नहीं, मशीन का पुरजा समझता है ! और वह भी ऐसा कि कहीं भी ठीक बिठाया जा सके ।

बीच में छुट्टी मिलती है, पर वह हमारी कितनी होती है, पता नहीं; क्योंकि उसके लिए हमने जो काम पहले से ही नय कर रखे होते हैं, वे भी नहीं हो पाते ! मतलब यह कि तन के सुख की खातिर जिस जाल में हम फँसे थे, वह सुख न रहकर सुख-सड़क का सूँ बन गया है ।

इस कौंटे को हटाकर हमें ऐसे कामों में ही लगना होगा, जहाँ हम तन्दुरुस्त हो सके और सुख पा सके ।

[४]

चौथा कौंटा हमारे रारते में यह है कि हम ऐसे बने हैं कि अकेले जिन्दगी नहीं बिता सकते । जनम से मरने तक, यहाँ तक कि मरने के बाद भी औरों को सडन से बचाने के लिए हमें समाज की जरूरत पड़ती है । बालक-पन में हम पर समाज का इतना करजा हो जाता है कि हमें उससे बचकर भागने में शर्म मालूम होती है । वह करजा भले ही कानूनी हिसाब से कोई कीमत न रखता हो; पर जब हम भले आदमी होने का दावा करते हैं तब कानूनी कीमत से हमको क्या मरोकार ! हमारे लिए तो नीति कानून से कई गुनी बड़ी होनी चाहिये और वह है भी । हम हेल-मेली (सामाजिक) प्राणी होने के नाते, समाज में रहकर साथियों का सुख भोगना चाहते हैं तो हमको उन कायदों, रस्म-रिवाजों का सामना करना पड़ता है जो उसने बना रखे हैं या जो उसमें काम में लाये जाते हैं । समाज सीधे-टोढ़े यह चाहता ही है कि हम अपने नये या उससे न मिलते विचारों को उसकी रिवाज की वेदी पर कुरवान कर दें । समाज ने मिलकर, अलग-अलग नहीं, यह मान रखा है कि जो-कुछ अन-पहचाना, अनोखा, वह बुरा । और जो जाना-पहचाना, वह जरूरी और अच्छा । ऐसी ही एक और मान्यता है कि जो नया वह पुराने से बेहतर, इसलिए नहीं कि वह सच्चा, भला और सुन्दर है; पर इसलिए कि वह नया है । समाज के यह दोनों अकीदे हम खुशी से मान लेते अगर वह हमारी जिन्दगी के लुप्त उठाने के रास्ते में रुकावट न डालते होते, पर वह तो हमारे पैदायशी हक पर ही पहला चार करते हैं । मैं क्या मानूँ, मैं किस पर एतकाद रखूँ, मेरा विश्वास

क्या हो, मैं किस धर्म को अपनाऊँ ? ये बातें एक की अलग-अलग पूँजी हैं; समाज की नहीं, और न हो सकती हैं। अगर किसी वजह से समाज इस पूँजी को अपना ले तो 'एक' बेहद कमजोर हो जायगा और यो समाज भी ज्यादा ताकतवर न रह पायगा। किसी रिवाज की सच्चाई, भलाई, सुघडाई समझाये बिना मनवाना एक तरह की जबरदस्ती है। बचपन से जबरदस्ती सहने की आदत की वजह से हम बड़े होकर भी सह लेते हैं और चूँ-चपड नहीं करते। पर यह आदत अपने-आप में भली चीज नहीं, क्योंकि हम बड़े होकर न सच्चे सुख को खोज सकने हैं और न पा सकते हैं। समाज, जो हमको वह बात मनवाकर सुख देने का वायदा करता है जिसको हमारा जी मानने को तैयार नहीं, हमें कैसे सुखी बना सकता है ?

हमारी समझ में नहीं आता कि हम क्या करें ? अपने साथियों में रहने की खातिर हमको समाज के कायदे और रिवाज मानने ही पडते हैं। उनसे आये-दिन काम पडता है। उनके साथ रहना, खाना, पीना, खेलना, सोना सभी तो होता है। हम अपनी बात भी कह दें और साथी बुरा न मानें, यह कला भी सीखनी होती है। समाज की रूढियों या बिलकुल बेतुकी रूढियों की वजह से समाज को अगर हम छोड़ बैठें तो जिन्दगी का लुत्फ ही क्या रह जायगा ?

कुछ न सही समाज को खुश रखने के लिए ही हमको समाज के रिवाज अपनाने पडते हैं और समाज के अकीदे मानने पडते हैं। बहुत-सी तो ऐसी बातें हैं जिनका आजकल कोई काम ही नहीं पडता, पर अपनाना तो पडता ही है। अगर हम कभी अपनी नई तान छेड़ते हैं, जो उनसे बिलकुल मेल नहीं खाती, तो वह हमें रोकने के लिए कानून बना डालते हैं। उसकी वजह से वह भी टिकत में पडते हैं और हम भी। कभी-कभी इस भ्रष्ट से बचने के लिए और वक्त बचाने के लिए ही हम उनके रिवाज मान लेते हैं। समाज में अभी अटपटे विचारों की वरदाश्त जितनी चाहिए पैदा ही नहीं हुई और न वे लोग कभी पैदा होने देंगे, जिनके हाथ में आज-कल समाज है।

और वह रिवाज है भी ऐसे कि खाने, पढ़ने, उठने-बैठने में उनका अगर कुछ मोल है तो इतना ही है, जितना हम कभी-कभी आँखों को धूप से बचाने के लिए पेशानी पर हाथ रख लेते हैं। छाया में आते ही वहाँ से उसे हटा लेते हैं। वह रिवाज सारे-के-सारे इस काबिल है कि उन पर फिर विचार किया जाय। जो रोकने के काबिल हो रोके जायँ, बदलने के काबिल हो बदले जायँ, सुधार के काबिल हो सुधारे जायँ, रखने के काबिल हो जोरदार बनाये जायँ। अगर कोई रिवाज तोड़े तो उसके साथ पूरा-पूरा इन्साफ़ किया जाय और देखा जाय कि उसने उस रिवाज को तोड़कर समाज का भला किया है या बुरा; या दोनों ही नहीं, सिर्फ़ अपना भला किया है।

रस्म-रिवाज एक तरह से सॉचे है। एक एक को उन सॉचों में होकर निकाला जाता है और समाज की मरजी का बनाया जाता है। इन सॉचों को समाज नहीं बनाता। बनाते हैं वह दो-चार, दस-बीस, या एक, जिनके या जिसके हाथ में उस वक्त का समाज रहा होता है जिस वक्त वह सॉचे बनाये गए थे। अब समाज कभी हुल्लड पसन्दों के हाथ में होता है, कभी तोल-पसन्दों और कभी मोल-पसन्दों के। हुल्लड-पसन्द तो सॉचों को बनाते ही नहीं, या अगर बनाते हैं तो उनको चलने नहीं देते; उनका बनाना-तोड़ना इतनी तेज़ी से चलता है कि उसे बनाना कहा ही नहीं जा सकता। तोल-पसन्दों को इनकी सबसे ज्यादा जरूरत होती है। वह इन्हीं के जरिये सब को काबू में रखते हैं और उनसे अपनी मरजी का काम लेते हैं। वह उनको चूसते हैं और चुसने वाले खुशी से आगे बढ़-बढ़कर चुमने को तैयार रहते हैं ! दुःख मानते हैं मगर चुसते रहते हैं ! उनके मन में उन सॉचों में होकर गुज़रने से यह विश्वास पक्का जम गया है कि यह चुसना हमारे भले के लिए हो रहा है और हमें अब भले ही तकलीफ़ हो गयी हो मरने के बाद बड़ा सुख मिलेगा। इन तोल-पसन्दों के काबू मोल-पसन्द नहीं आते। पर वह गिनती में इतने थोड़े होते हैं कि अबल तो कुछ कर ही नहीं पाते, क्योंकि वह बहुत जन, धन, चले-चपाटों के कायल नहीं होते, और अगर किसी एक को अपने विचार फैलाने की मूर्क हो गई तो वह या तो जल्दी

खुदा के पास (जो तोल-पसन्दो का अपना बडा प्यारा मालिक है) भेज दिया जाता है या फिर तोल पसन्द खुद ही उसके पक्के चेलों बन बैठते है । फिर उसकी बात को वे आम लोगो तक नही पहुँचने देते या अगर पहुँचने देते है तो उसे अपने रग मे खूब रग देते है । ऐसा बहुत कम ही होता है कि दुनिया मोल-पसन्दो के हाथ मे हो । कभी-कभी वह अपने आप ही किसी मोल-पसन्द को अपना बडा मान बैठती है और यो कभी-कभी उसके हाथ मे भी आ जाती है । हाँ, उस वक्त जो सॉचे बनते है वह सबके भले के होते हैं, पर वह भी उसी वक्त के लिए होते है, हमेशा के लिए नही । आज भी अगर रस्म-रिवाजो के सॉचो की मरम्मत कराना हो या एकदम बदलवाना हो तो यह काम मोल-पसन्दो को सौपकर ही ठीक हो सकता है । तोल-पसन्दो के हाथ मे देकर भी आप बदलवा सकते है और वह खुशी से बदल भी देगे, पर असली गरज उनकी वही बनी रहेगी जो पहले थी ।

इसमे शक नही कि समाज आये-दिन अपने रिवाज और कारून बदलता रहता है और नये-नये सॉचे गढ़ता रहता है, पर वह सब तोल-पसन्दो के बदले होने की वजह से अपनी खासियत मे ज्यो-के त्यो बने रहते है और समाज ज्यो-का त्यो गुलाम बना रहता है । समाज का नुकसान किये बिना हमे अपने ढंग से रहने की आज्ञाटी मिल ही नही पाती । हम समाज से कटकर ही वैसा कर सकते है, जिसमे जिन्दगी का लुत्फ आधा रह जाता है ।

हम अगर कोई अपना ढग हिम्मत कर या ढीट बनकर अपन भी ले तो मन यह डर मानता ही रहता है कि लोग क्या कहते होंगे । कभी-कभी ऐसा भी होता है कि हमारे मन के डर का न हमे पता चलता है और न समाज को, पर अन्तरात्मा तो उसको मानता ही है । इसलिए हमारे कार्यों मे अन्तरात्मा के हिसाब से कमजोरी रह जाती है । उस कमजोरी का असर हर घडी हमारी जिन्दगी पर होता है और जल्दी या देर से वह कमजोरी हमे भी खटकने लगती है । मुश्किल तो यह है कि हमारी सचमुच 'दो तन एक मन' वाली पत्नी भी समाज के रिवाजो से इतनी गुथी होती है कि वह हमारा साथ निभाते भी नही निभाती । यही हाल बेटे-बेटियो का होता है ।

पत्नी कुछ कर बैठे तो पति साथ देते भिभक्तता है, और कब ? जब वह उनके काम को जी से ठीक समझता है। यही हाल बेटे-बेटियों के कर गुजरने पर बाप का होता है। हमें क्या पहनने में सुभीता है, कहाँ रहने में आराम है, क्या खाने से हम तन्दुरुस्त रह सकते हैं, कौन-सा खेल खेले, इन जरूरी बातों में भी हम आजाद नहीं। समाज जो कहे वह पहनो, जहाँ कहे वहाँ रहो, जो बताये वह खाओ, जो खेल कहे वह खेलो। समाज की मरजी की बात न करे तो कहीं के नहीं रह जाते। वह हमें सिर्फ जात से बाहर ही नहीं कर सकता, वह तो यह भी कर सकता है कि हमारे कारोबार से भी अपना रिश्ता काट ले और हमें कहीं का न रहने दे। हमको सिर्फ हेल-मेल के लिए ही नहीं कमाने और पेट भरने के लिए भी समाज की रूबियों को अपना पडता है।

अब यह तो समझ ही लेना चाहिए कि अपने पैरों पर आप खड़े हुए बिना कोई ऐसा खेल खेल बैठना जो समाज के कायदों के एक दम खिलाफ हो कितना डरावना काम है। पर हमें हिम्मत मिली और किस-लिए है ? सच्चे सुख की खोज में उससे काम न लेंगे तो उसके हमारे पास होने का फायदा ही क्या ? हेल-मेल से रहने की कुदरती आदत का कौटा तो रास्ते से हटाना ही होगा। कुदरती आदत तो छूट नहीं सकती और छूटनी चाहिए भी नहीं, उसे छोड़कर न हम आदमी रह जायेंगे और सभ्यता तो फिर रह ही कैसे सकती है ! हमें करना यह होगा कि एक छोटा-सा कुटुम्ब बनाना होगा जो अपने-आप में हर तरह से पूरा हो यानी अपना नाज-तरकारी उगा ले, अपने कपड़े बना ले, अपने जानवर पाल ले और अपनी कुटिया बना ले। सच्चा-मुख उस कुटुम्ब में बिना बुलाये आयेगा ही और उस सुख के दर्शन कर तुम-जैसे कितने ही कुटुम्ब तुम्हारे आस-पास कुछ ही दिनों में अपने-आप आ खड़े होंगे। जिसमें जरा भी हिम्मत और अपनी समझ होगी वह तुम्हारी नकल किये बिना न रहेगा; पर तुम अपना कौटा हटाओ और सुख पाओ। "



: ५ :

डरे, वह जवान कैसा ?

डर भी सुख-सडके का सूल है । डर से सब डरते है । डर को सब बुरा समझते है । डर सुख का मजा नहीं लेने देता । डर मे एक और भारी ऐव है, यह सुभाब की फूँक से फुटवाल की तरह फूलता चला जाता है । डर जानवरो मे भी है, पर सुभाब के मामले मे वह हमसे अच्छे है । उनका डर जितना है उतना ही रहता है, कम तो होता है, बढता नहीं । किसी जानवर मे भूठा डर अगर समा जाय तो वह बना ही रहता है । मिसाल के लिए किसी सॉप को अगर आप लाल गरम लोहे की सीक से छुआकर डरा दे तो वह उमर-भर लाल रग की लकडी से डरता रहेगा । मतलब यह कि डर के मामले मे जानवर हम से फिर भी भले है । डर लेकर हम जन्मे भी है और वह हम मे पैदा भी किया जा सकता है । यह मन का भाव है । मार्के का होने से नौ भावो की गिनती मे इसको जगह मिल गई है । माँ के पेट से जितना डर हम लाते है, वह हमारे बडे काम आता है । हमे जीते रहने और बड़े होने मे मदद देता है । डर ने हमको चौकन्नापन नाम वाला चौकीदार दे रखा है जो बढी होशियारी से हमारी देह का पहरा देता रहता है और पूरी वफादारी से काम करता है । सब चोर-उच्चको को रोकने मे तो यह बडा पक्का है पर सुभाब के साथ मामूली आवाज के रथ मे बैठकर जो चोर-उच्चके मन मे आ बैठते है उनको यह नहीं रोक सकता । चौकीदार होते उलटा उनसे डरने लगता है । मिसाल के लिए देवी-

देवता, भूत-प्रेत, सुरग-नरक, और हौआ-जैसी बातें हमारे मन में जम जाती हैं तो चौकन्नापन ढीला पड़ जाता है और चौकीदार होने पर भी डरने लगता है। कल्पना देवी उन सुभाषों की गोलियों को वाजीगर की तरह दो की चार, चार की आठ करती रहती है। मन में डर का राज हो जाता है। मन के डर को दूर करना आसान नहीं। आसान नहीं है न सही, पर वह तो देह को बनाने की जगह देह को खाने लगता है। 'जो है ही नहीं' उसका डर बिठाना आसान है, पर निकालना बेहद मुश्किल है। उसको निकाले बिना असली सुख भी मिलना मुश्किल है।

'है नहीं' का डर निकालने का बल जिसमें है उसी का नाम धर्म है, सत्य है, दीन है। उसी को ईश्वर कहो तो हरज नहीं। पर ईश्वर की बात कही नहीं कि दुनिया का राजा ईश्वर तुम्हारे मन में आ बैठता है और फिर उसका तख्त बन जाता है, ताज बन जाता है, शक्ल बन जाती है, दरबार बन जाता है और दरबारी भी। ईश्वर आया था डर निकालने और डर की ही पोशाक पहनकर जम जाता है। इसलिए हमारी सलाह में उसका नाम धर्म या सत्य ही ठीक रहेगा। अब धर्म की बात सुनिए। उसको भी धर्म ही कहते हैं जो तरह-तरह के धर्मों ने 'है नहीं' को 'है' मानकर अपने-अपने सिद्धान्त बना लिये हैं और उसको भी धर्म कहते हैं जो तरह-तरह के धर्मों में पैदा हुए सन्तो ने 'जिन्दगी बिताने के' सीधे-सच्चे रास्ते बता दिए हैं। अब धर्म दो तरह का हो गया—सिद्धान्त वाला धर्म और सच्चे रास्ते वाला धर्म। सिद्धान्त वाले धर्म को हम अफीम की पिचकारी (इन्जेक्शन) मानते हैं और सच्चे रास्ते वाले धर्म को अचूक दवा, जो जरा देर में असर करती है। बड़ा हुआ डर है बीमारी। सिद्धान्त की पिचकारी बेहोशकर डर को भुला देती है या फिर डर को दवा देती है। दूर नहीं कर सकती न मुनासिब दृष्टि को पहुँचा सकती है। 'सच्चे रास्ते वाली' दवा डर को दूर कर देती है और डर को उतना ही रहने देती है जितना वह मों के पेट से आया था और जो जीवन के लिए जरूरी है।

सिद्धान्त-धर्म से डरपोक को तसल्ली मिलती है, वह धर्म की अपनी

आदत बना लेता है और जब भी डर लगता है तो उससे काम लेने लगता है । जैसे भूत भगाने के लिए हनुमान-चालीसा पढ़ना या लाहौल पढ़ना । जिनमे न अपनी समझ है न सोचने की ताकत, वह और करे भी क्या ? सिद्धान्त-धर्म से एक और फायदा होता है । आदमी जिन्दगी की सैकड़ों भ्रमों से बच जाता है । उसे यह सोचना ही नहीं पड़ता कि मिरगी एक बीमारी है और इस वजह से होती है । उसके पास हनुमान-चालीसा है या लाहौल है । यो सस्ता छूट जाने वाला आदमी आखिर टोटे में हो रहता है । गलतियों सुलभाने से काम चलेगा, बचकर भागने से नहीं । वह तो कदम-कदम पर आएँगी और बढ़ती ही जायँगी । एक के सुलभाने से सुलभाना आ जायगा और वह हमेशा काम आएगा । गुत्थी को उलझा छोड़ना बुद्धिमानी नहीं । सुलभाने के झूठे तरीके अपना बैठना और भी बुरा । बचकर भागना सुलभाना नहीं हो सकता । कोई तरीका सिर्फ पुराना होने से सच्चा नहीं माना जा सकता । सच्चा साबित होने के लिए उसको कसौटी पर कसे जाने को तैयार रहना चाहिए ।

अगर हम यह चाहते हैं कि हमारी जिन्दगी की हर घड़ी में से हमें सच्चाई, भलाई और सुन्दरता मिला करे तो हमको सब तरह के सिद्धान्त-धर्म ही नहीं छोड़ने होंगे, उससे पैदा हुए डर, पक्षपात, रस्म-रिवाज और आदतों को भी विदाई देनी होगी । सच्चा सुख और किसी तरह मिल ही नहीं सकता ।

धर्म सबसे पहले हमें हवाई महलों में, हवाई जलसों में, हवाई फूल-वारियों में, हवाई रसोई घरों में, हवाई मैदानों में ले चलता है । वहाँ महल मिलते हैं, पर आँख खोलकर देखो तो दिखाई नहीं देते । वहाँ राग है पर कान से सुनाई नहीं देते, वहाँ फूल है पर नाक-उनकी खुशबू नहीं ले सकती, वहाँ मिठाइयों है पर जीभ उनको नहीं चख सकती, वहाँ ठंडी हवा है पर बदन को नहीं लगती । वह सपने की दुनिया है, वह खयाल की दुनिया है । वहाँ दरबार भी है और सब दुनियाओं का राजा भी वहाँ है ।

मामूली सभ-बूझ और विश्वास ही दोनों कुछ वजह लेकर चलते हैं,

कुछ ढंग के नतीजे निकालते हैं, कुछ करके दिखाते हैं। सवाल उठाते हैं, उनके जवाब देते हैं, शक दूर करते हैं। पर धर्म ? वह सवाल उठाएगा सौ, पर जवाब देगा एक। कुदरत दिखाकर कहेगा, देख लो ईश्वर की कारीगरी। ईश्वर दिखाई नहीं देता, कुदरत दिखाई देती है। कुदरत की बात पढ़-अपढ़ सब ही जोर के साथ सुन-बोल लेते हैं; पर ईश्वर की सुनते ही जबान बन्द हो जाती है या वह भी बहकी-बहकी बातें करने लगते हैं। आखिरी जवाब होता है 'तुम्हारी समझ का फेर है' यानी यह कि जवाब देने वाला बहुत अकलमन्द और जवाब सुनने वाला बिलकुल बेवकूफ है।

कुदरत की खासियत को ईश्वर की खासियत कहने से फ़ायदा ? हमारी राय में तो नुकसान ही है। नुकसान यह है कि हम जाने अनजाने यह कह जाते हैं कि हम यह नहीं जानते कि कुदरत की खासियत क्या है ? ज्ञानियो को तो हमने यही कहते सुना है कि हम सब कुछ जानना तो एक ओर बहुत कुछ भी नहीं जानते। जितना ज्यादा-ज्यादा जानते जाते हैं उतना ही यह मानते जाते हैं कि हम पहले अगर हजार बातें नहीं जानते थे तो अब लाख नहीं जानते। उनका तो यह कहना है कि तालीम एक ऐसा सफर है कि उस सस्ते में जितने आगे बढ़ो, अज्ञानकारी के मैदान पर-मैदान मिलते चले जाते हैं।

ऊँचे दर्जे के आदमी अपनी जिन्दगी जब शुरू करते हैं तो सैकड़ों सवालों का हल वह नहीं जानते। उनके काम-चलाऊ जवाब सोच लेते हैं और आगे बढ़ते हैं। अपनी अज्ञानकारी को कहने में उनको खुशी होती है; सिर्फ भिन्नक नहीं होती इतना ही नहीं।

अज्ञानकारी की अज्ञानकारी लिए आगे बढ़ना न हो सकेगा।

जानी होने का पक्का दावा उनका ही होता है जो अज्ञानकार होते हैं, रूढ़िवादी होते हैं या धर्म-सिद्धान्ती होते हैं। रवर्ग या नरक को कौन राह गई, इसका पता तो उनको इतना पक्का याद हो जाता है जितना चिड़ीरसा को डाकखाने का। ईश्वर से उनकी रोज बातें होती हैं, उसको मानने की बात ही क्या !

जो कुछ पूछता है, तरह-तरह की शकॉँ करता है। वह अपनी अज्ञानकारी को साँफ़ कुबूल वर रहा है और यही रास्ता तो समझ की तरफ़ बढने का है। ईश्वर को मान बैठना तो इस अज्ञानकारी को मान बैठना है कि हम यह नहीं जानते कि प्रकृति का क्या स्वभाव है। ईश्वर को मान बैठना एक मजबूत रस्सी पकडना तो है पर वह रस्सी तो अज्ञानकारी के खूँटे से बँधी हुई है। शंका की रस्सी सच्चाई के खूँटे से बँधी हुई है और वही 'सच' तो सब कुछ है।

पराधीनता और बीमारी से हम बचते हैं सिद्धान्त बना बैठना भी बीमारी है और पराधीनता भी। उससे भी बचना चाहिए। उससे बचे बिना खूँचा सुख नहीं मिलेगा। सिद्धान्त बना बैठने की बीमारी बडी तेजी से बढ़ती है और वह जिन्दगी के ही महल में जा पहुँचती है। इतना ही नहीं वहाँ जाकर अफ़मर की कुरसी पर जा डटती है। सिद्धान्त की जड में अनुभव एक, तो कल्पना निन्यानवे रहती है। इस वजह से सिद्धान्ती जगह-जगह सिद्धान्त खडे कर देता है। एक विज्ञानी ईश्वर मानने से पहले एक नई इन्द्रिय यानी हवास गढता है और उसका नाम रखता है 'धर्मेन्द्रिय।' वस अब उसकी दलीले नया रग ले लेती है। वह कहेगा, ऑख न होने से आदमी देख नहीं सकता, इसी तरह 'धर्मेन्द्रिय' ठीक न होने में आदमी न ईश्वर को मान सकता है और न समझ सकता है। यह दलील लाखों को भा जाती है, हज़ारों को सोच में डाल देती है और सैकडों का मुँह बन्द कर देती है। हम दस-बीस ही टक्कर लेने वाले रह जाते हैं। यह ठीक है कि विज्ञानी ईश्वर की कल्पना काम चलाने के लिए करता है पर उसकी यह आदत विज्ञान के मैदान में भी पहुँचती है और वह वहाँ भी काम-चलाऊ सिद्धान्त गढने लगता है। वहाँ उसका काम रुक जाता है और फिर सिद्धान्त बनाना निरी बीमारी और गुलामी रह जाती है। सुख के रास्ते का कॉटा-भर रह जाता है।

यह सच है कि हम जब भी कोई राय बनाते हैं तब सोलह आने ठीक नहीं होते। लेकिन अगर हम कह बैठे कि हमसे भूल हो सकती है तब

कट्टर-पन्थी हमको संशय-आत्मा यानी शक्की-मिजाज कहकर चुटकियो से उडा देते है । दूसरे लफ्जो मे सचाई पर अमल करते ही हमे लोग अकीदे का कच्चा बताने लग जायेंगे ।

यह सच है कि हमारी समझ मे उन तरह-तरह के ईश्वरो मे से कोई भी ठीक नहीं बैठता, जिनको अब तक के समाज या समाजो ने गढ़ रखे है । पर जैसे ही हम एक अलग ईश्वर या ईश्वरो के होने से इन्कार करते हैं वैसे ही लोग हमको नास्तिक, काफिर कहकर, बहुत तादाद वाले ना-समझों की नजर मे, नीचा कर देते है ।

ऊपर की दोनो बातो से न हम बच सकते है न कोई और । क्योकि हम सब किसी एक किस्म के ईश्वर को ही तो माने हुए है और साथ-ही-साथ दूसरी किस्म के ईश्वर के होने से इन्कार करते है या शक करते है । तब डरने से फायदा ? यह बेजा डर सुख के लिए दूर करना ही होगा ।

ईश्वर के मानने-भर की बात होती तो कोई दिक्कत न थी; पर मुश्किल तो यह होती है कि उसको मानते ही उसको खुश करना जरूरी और फिर उसके सिर दुनिया-भर की जिम्मेदारी थोपना जरूरी और न जाने क्या क्या । इस किस्म का एक सिलसिला ही खडा हो जाता है । पर मन है कि इसी रास्ते चलता है । इसको इस आसान रास्ते पर चलने की पुरानी आदत है और मीरास मे मिली है । इस रास्ते चलकर जिन्दगी की भंभटे जितनी जल्दी सुलभती है इतनी जल्दी दूसरे रास्ते चलकर नहीं । मन डाह का कुआँ, हसद का टीला, जलाये की भट्टी है; उसका गढ़ा हुआ ईश्वर फिर डाह का सागर, हसद का पहाड़, और जलापे का ज्वालामुखी होना ही चाहिए । अब कोई समझदार आदमी ऐसे ईश्वर को कैसे ओंखें बन्द करके मान ले ! अब समझदार सब जगह रहने वाले, सब जानकार (हाकिम, नाजिरकुल यानी सर्वव्यापी, सर्वज्ञ) ईश्वर को मानकर उनसे पीछा छुडाता है और इसी मे अपना भला समझता है । एक अलग समझदार उसके गले नहीं उतरता । आखिर पॉचों इन्द्रियो और मन का नाम ही तो शक्तिशयत है । उसके अगर यह पॉचो हवास और मन अलग कर लिये जायें

तो फिर शख्सियत खत्म हो जाती है। हम शख्सियत यानी व्यक्तित्व की कुछ भी सिफत कायम करे, ईश्वर पर पूरी नही उतर सकेगी। उन सिफतों के साथ ईश्वर, ईश्वर ही न रह जायगा। मामूली आदमी से भी गया-बीता बन जायगा।

समझदारी और नेकी का भी यही हाल है। जानदार से अलग उसको सोचा ही नहीं जा सकता। समझदारी आदमी में है, उसकी मदद से वह गाली खाकर उठे गुस्से को काबू में कर लेता है; दूसरे की बढती देख मन में उठी जलन को बुझा लेता है, तंग आकर चोरी करने पर उतारू मन को समझाकर उधर गिरने से रोक लेता है। किन्हीं दो आदमियों में एक-सी समझ न होने की वजह ही यही है! दोनों पर एक ही बात का असर होकर एक-से खयाल पैदा नहीं होते। इसलिए कुदरत में सारी समझदारी, नेकी एक जगह इकट्ठी हो जाने की बात भी नहीं बनती। नेक आदमी जब तक खुद बट न बने वह अपने प्यारों को न खाक में मिला सकता है और न तकलीफ पहुँचा सकता है और न बदला लेने की सोच सकता है। किसी आग लगाने वाले या कतल करने वाले के बारे में यह सोच बैठना या कह उठना कि यह काम उससे कोई बेहद नेक शख्सियत (ईश्वर) करा रही है, कैसे ठीक समझा जा सकता है? और यही बात आये-दिन ईश्वर के बारे में कही जाती है। इस तरह सोचने की तह में, जड में—डर है, भिभक है। यह भिभक सुख-विस्तर की सलवट है। जो ठीक नीट नहीं लेने देती।

डर का चेरा हुआ घमण्ड। हम अजर-अमर है या नहीं, यह सोचने की बात है, पर अजर-अमर का विचार घमण्ड की देन है, उसी की सूझ है। सुखी जीवन बिताने में यह अजर-अमर का खयाल बहुत खटकने वाला कौटा है। हमारी छोटी-सी जिन्दगी इस खयाल से बेहद लम्बी हो जाती है। जिन्दगी अपने-आप ही बड़ी पाक चीज है। यह अजर-अमर को खयाल जीवन की पवित्रता को खा जाता है। तभी तो धर्मात्मा कतल और गारतगरी पर उतर आते हैं। "जिन्दगी क्या है?" यह खोज भी रुक जाती

है। जिन्दगी के अजर-अमर होने की बात वही ठस रह जाती है। हमारी हालत उन बच्चों-जैसी हो जाती है जो दिल्ली जाना सोचते हैं और खाट पर बैठे-बैठे यह मानकर कि दिल्ली आ गई वही बैठे रह जाते हैं और दिल्ली नहीं पहुँच पाते।

हमेशा रहने वाली जिन्दगी के साथ बुराई-भलाई मिलकर नरक-सुरग खडे हो जाते हैं। बुराई से बचाने और भलाई में लगाने के यह औजार मान लिए जाते हैं। समझदारों को यह दोनों अपील नहीं करते। नरक की व्यादतियों और सुरग की बेकारी दोनों ही नाममभी की चीज है। आम आदमियों को वह ठीक जँची हो यह भी नहीं; क्योंकि दीन-धर्म के नाम पर किसी युग में कतल गारतगरी की कमी नहीं मिलती।

दीन-धर्म को कुछ लोग तो सिर्फ ईश्वर की पूजा-बन्दगी और उससे प्रेम करना ही मान बैठे हैं। कुछ ऐसे भी हैं जो दीन-धर्म को नेकी और अच्छे चाल-चलन की बुनियाद मानते हैं; पर इस मामले में वह हवाला देते हैं किसी आसमान से उतरी किताब का या ऐसी किताब का जिसमें जो कुछ लिखा है वह वही है जो उनके बड़ों के कान में ईश्वर आकर फूँक गया था। नतीजा यह होता है कि हर धर्म के रस्म-रिवाज, चाल-चलन, वहीं-के-वही जमे रहते हैं और उनमें से बढचलनी निकल आती है और तरक्की रुक जाती है। सब धर्मों के रिवाज-तरीके एक नहीं, कहीं-कहीं तो उलटे हैं। नफा इसी में है कि सिद्धान्त-धर्म से बचा जाय। सुख इसी में है।

धर्म का सवाल हिन्दुस्तान में ही नहीं, सारी दुनिया में जरूरी बन गया है। दुनिया में सबसे जरूरी चीज हवा है। पर लोगों के मुँह में धर्म को हवा से भी ज्यादा जरूरी मान रखा है। काम में लाने के लिहाज से धर्म का नम्बर बहुत पीछे पड जाता है और बहुत कम जरूरी चीज रह जाता है। काम जिससे ले रहे हैं उसे धर्म कहते शरम आती है। कुदरत धर्म को ज़रा भी महत्व नहीं देती। रिवाज धर्म की सबसे ज्यादा जरूरत समझने हैं। रिवाजों का कहना है कि हमें छोडा और सजा मुहारे नाम लिखी गई

और मौत का दारोगा तुमको वहाँ ले जायगा जहाँ का हुक्म मिला है। गरज यह है कि धर्म के गैर-जरूरी काम पर इतना जोर दिया गया है और दिया जा रहा है कि जिन्दगी के बेहद जरूरी सवाल 'हवा की सफाई' तक से धर्म में मस्त अपनी आँखें फेर लेते हैं और हवा को गन्दा करते रहते हैं।

खाने-पीने का सवाल भी बहुत जरूरी है। उसकी तरफ हम नज़र ही नहीं डालते। काम हम सारा करते हैं, खाने-पीने के लिए, पर मन में उस सवाल को जो जगह दे रखी है वह धर्म से कहीं नीची है। खाने के सवाल में जीने-मरने का सवाल है, फिर भी हम उस तरफ से बे परवाह बने हुए हैं।

सुखी बनने के लिए जरूरी सवाल को जरूरी समझने में जरा भी नहीं भिन्नकना चाहिए।

मिसाल के लिए ईश्वर के सवाल को ले लीजिए। यह सवाल सबसे जरूरी मान लिया गया है। पर इसका जवाब सोचना हमारा काम नहीं बताया गया। वह काम हमारे लिए हमारे मॉ-वाप करे। और उनके लिए उनके पुरोहित-मुल्ला करे और उनके लिए धर्म की किताबें करे। हमारा काम सिर्फ इतना है कि हम ईश्वर को मान ले। समाज ने कानून बन्ना-रखा है, ईश्वर को मानो, नहीं तो समाज बाहर। 'कुदरत को अगर ईश्वर की दासी मान ले तो वह ईश्वर का पता देने या उसको समझाने में रत्ती-भर मदद नहीं करती। हॉ, धोखा खूब देती है। कुदरत नास्तिक के खेत में पानी बरसा देती है, उसे लहरा देती है और आस्तिक के खेत में एक वूँट नहीं गिराती और रही-सही नमी भी सोख लेती है। वह खुदा के मानने या न मानने वाले में कोई तमीज़ ही नहीं करती। ज़्यादातर तो यह देखा गया है कि वह खुदा के न मानने वाले के साथ रिआयत करती है। मानो वह खुदा के खिलाफ बागी हो गई हो। उसके एक-दो नहीं, हजारों काम ऐसे होते हैं कि वह खुदा की गुरथी को और उलझा देते हैं।

समझ में तो साफ आता है कि ईश्वर का सवाल एक-दम गैर-जरूरी है,

जवानो !

परसमाज ने हमको नकेल का ऊँट बना रखा है और नकेल सरकार के हाँथों में थमा रखी है। अब नकेल तुडाने से पहले हम अपना खाना आप जुटाना सीख लें और फिर नकेल तुडा लें तो सुख मिले।

अगर सचमुच हम जो कुछ है उससे ऊँचा उठना मंजूर है तो हमें चाहिए कि हम एक नई पूजा ईजाद करें यानी जिन्दगी की पूजा और वह यह कि जीवन बहुत पाक चीज है। इस पर ऐसा कोई धब्बा न लगे कि हमारा सुख ही हमारा दुःख बन जाय। धर्म अपनाना ही है तो ऐसा तो हो जो हमको सुख न दे, पर सुख पाने से रोके तो नहीं।

ईश्वर मानो; पर डरो ईश्वर से भी नहीं। डरे, वह जवान भी कैसा ?



बदलते डर कैसा ?

चाल-चलन में हमको कुछ हक नहीं। उसमें अक्ल को देखल कैसा ? जो समाज कहे, जो राज कानून बना दे वैसे ही रहना। यानी मन की उमग का कटम-कटम पर टबाना। मन की उमंगों को तो हमारी समझ भी हर वक्त दबाए रखती है, पर उसके दबाव में और समाज और कानून के दबाव में बड़ा फर्क है। मिसाल के लिए बच्चे पर माँ का दबाव भी रहता है और गुरु का भी, पर माँ के दबाव में बच्चा पनपने से नहीं रुकता। गुरु के दबाव में पनपने से रुकता है। समझ का दबाव मन पर तन्दुरुस्त असर डालता है, पर समाज के बन्धन और कानून की अडचन उसका (मन का) टम पी लेते हैं। वह उभर ही नहीं पाता। जब मन ही ठीक नहीं तब सुख कैसा !

अब हम ठहरे प्राणी और वह भी दस में मिल-बैठकर जीने वाले प्राणी। हम अपने हर काम से किसी को रुलाते हैं, किसी को हंसाते हैं; किसी को टबाते और किसी को उकसाते हैं, किसी को डराते और किसी को उमगाते हैं। यह सच है कि हमारा छोटे-से-छोटा काम हमारे हम-जोलियों पर किसी-न-किसी तरह का असर डालता है, पर यह और भी ज्यादा सच है कि हमारे हमजोली हमारी नीयत को जानते हुए भी इसका वही असर मानते हैं जो इनको रिवाज ने सिखा रखा है। यानी हमारे सब काम हमारे और हमारे दोस्तों की नीयत की कसौटी पर नहीं कसे जाते, वह कसे जाते हैं

जवानो !

समाज के गढ़े हुए हुकमो या राज के बनाये कानूनो की कसौटी पर ! जिसका साफ़ मतलब यह है कि हम और हमारे दोस्त, हम और हमारी संगिनी, हम और हमारे रिश्तेदार, हम और हमारे मेहमान, हम और हमारे हम-सपर तक वैसे उठे-बैठे जैसे समाज या राज चाहता है; न कि वैसे उठे-बैठे जैसे हम आपस में जब जहाँ जैसे तय करे । मिसाल के लिए, मैं और वे, जो मेरी जीवन-संगिनी बनना चाहती है, गृहस्थी की गॉठ में बंध ले और आग के चारो तरफ सात बार न घूमे तो समाज हम को थूकेगा, कानून हमको डरायेगा । भले ही हम आग को देवता न मानने वाले हिन्दू हो । इसका नतीजा यह होता है कि हमको समाज की राय और रूढियो से जोड़ बिठाने में इतना जोर लगाना पडता है कि हम अपना सुख ही गवों बैठते हैं । इस मन मार रीति-रिवाज की कीचड में मैस की तरह आनन्द लेने वाले समाज पर जब तक हम अपने रिवाजो के लिए निर्भर रहेंगे तब तक सच्चे सुख से कोसो दूर रहेंगे ।

न हमारी तकदीर खराब है और न हमारी अकल तदवीर मोच निकालने में किसी से कम है । पर कमी है इस बात की कि हमने अपनी मन की आँव (अन्तरात्मा या जमीर) को न तो अब तक पूरा पूरा खोला है और न उसको यह काम सिखाया है कि वे अपनी सोची तदवीरो को ताड ले और उनका नैतिक मोल कितना है यह भोंप ले । तदवीरे सोचे जाना और उनको काम में न लाना आज्ञाधी से सोचने-विचारने की ताकत को कम कर देता है । और फिर तदवीरे सूझना भी कम हो जाती है, या जो सूझती है वे निकम्मी होती है । तदवीर सूझती हैं काम के लिए, पर वे मन में ही नाच-कुदकर रह जाती हैं । जब हमारी तदवीर हम अमज में नहीं लाते तब भी उस काम को तो करना ही होगा जिसके लिए हमें वह तदवीर सूझी है । इसमें अब हमको मजबूर होकर उस तदवीर से पाम लेना पडता है जो समाज ने हमको बता रखी है । मिसाल के लिए हम समाज के कायदे तोडकर एक विधवा से विवाह करना चाहते हैं । वह विधवा तैयार है, हमारे कुछ दोस्त भी तैयार हैं । तदवीर यह सुझाती है कि जो भी साथ दें उनकी मदद से

खुल्लम-खुल्ला शादी की जाय। पर हमारा भीतर का मन उस शादी की नैतिक कीमत लगाता है सिफर से भी कम, क्योंकि उसको हमने कीमत लगाना सिखाया ही कब है ? तब समाज का रिवाज चट हमारे कान में आकर कहता है कि इस विधवा को अपने यहाँ रोटी बनाने को नौकर रख लो और मौज करो। वह हमें और भी तरह-तरह की ऊँच-नीच सुभाता है। हमको उसकी बात अपनी तटवीर से ज़्यादा कीमती जँचती है। हम सस्ता सौदा कर बैठते हैं और फिर आये-दिन रोते रहते हैं। अब हमारा इतना बुरा हाल हो जाता है कि हमारा मन दुर्बल होकर वैसे ही सोचने लगता है जैसे सोचकर समाज ने हमारे लिए रिवाज बना दिये हैं और तो और हम दूसरे कामों को भी रूढ़ि की कसौटी पर ही कसने लगते हैं और जिस तटवीर ने हमको कीचड़ से निकालने के लिए जोर लगाया था उसको धकेलकर पीछे पटक देते हैं। अब सोचिए हमें अपनी तटवीरे पटक-पटककर सच्चा सुख कैसे मिल सकता है ?

समाज तो हमको तभी खुश-इखलाक और सुचाली कहेगा जब हमारे सारे काम और औरों के कामों के बारे में हमारे सब फैसले वैसे ही होंगे जैसे समाज ने करने या बताने को बना रखे हैं। यह तो ठीक ही है। क्योंकि समाज और किसी तरह एक-एक को अलग-अलग अपने चु गल में अपनी मरजी के माफिक फँसा के नहीं रख सकता। जब कि एक-एक अलग-अलग अपनी मरजी से अपनी कुछ शर्तों के साथ समाज के चु गल में फँसा है और समाज को कोई हक इस तरह दवाने का नहीं है। यह रूप कुछ तो ठीक है, पर जब एक अपनी शर्त ही भूल बैठा हो तो समाज क्यों याद दिलाये और अपनी ताकत को कम करे। इधर एक अपनी शर्तें भूलता है तो उधर समाज अपने बलवान् बनने की कसरत भूल जाता है। उसको यह याद ही नहीं रहता कि एक-एक के बलवान् होने से ही समाज बलवान् बनता है। समाजों का इतिहास गवाह है कि इस समाज को उसी ने बलवान् बनाया है जिसको समाज ने शुरू में नालायक समझकर दुरदुराया था और दूध में से मक्खी की तरह अलग कर दिया था। आज भी हर जगह वही हो रहा है और

जवानो !

होता भी रहेगा । न जाने क्यों इन सब से एक न एक सबक़ लेता है, न हिम्मत बँधता है और न समाज सुधारने की सोचता है । एक तो यह समझ ही बैठा है कि मैं अच्छा हूँ, अगर समाज मुझे अच्छा कहता है । भले ही मैं भूठ बोलूँ, चोरी करूँ, लोगो को सतारूँ, मारूँ, काटूँ, चाहे कितना धन जोड़ूँ और गरीबो को चूसूँ, सिर्फ़ इस बात का खयाल रखूँ कि कोई काम रूढ़ि के खिलाफ़ न हो । उधर रूढ़ियो हैं कि उन्होने सब तरफ़ सब तरह के दरवाजे खोल रखे हैं । रूढ़ियो में बँधे-बँधे भी हम सुचाली हो सकते हैं और दुखी भी हो सकते हैं । क्योंकि कोई रूढ़ि में फँसकर सुखी तो हो नहीं सकता; पर हॉ, हमें इतनी तसल्ली रहेगी कि हमारा जमीर यानी भीतर का मन समझता रहेगा कि हमने कोई गुनाह नहीं किया ।

वैशक समाज हमको बढइखलाक और कुचाली कहेगा अगर हमारे काम, और दूसरे कामो के बारे में हमारे फँसले, समाज की रूढ़ि की कसौटी पर खरे नहीं उतरते । और अगर कही हमने उनके बनाये कायदे तोड़ डाले हों, तब तो वह हमको गुनहगार और मुजरिम समझ लेगा और उसको वैसा हक भी है । पर यदि हम उस बात को ठीक समझकर भी अपने-आप को गुनहगार समझने लगेंगे, तो गुनहगारी तो किसी को सुखी नहीं कर सकती—क्योंकि रूढ़िवादी भी कोई गुनहगार सुखी देखने में नहीं आया—तब हमारा बुरा हाल होगा । हम पाप के बोझ से दबे रहेंगे और न जाने कब तक दुःख भोगते रहेंगे । अब अगर हम उसी काम को अपनी समझ की चालनी में छानकर करते तो कम-से-कम पाप के बोझ से बच जाते, सिर्फ़ समाज की नज़रो में ही गुनहगार रहते ।

अब देखना यह है कि समाज के कानून की जड़ में ऐसी क्या चीज़ है जो उसको इस कदर मजबूत बनाए हुए है कि मजबूत-से-मजबूत और समझदार-से-समझदार आदमी भी न उसको हिला सकता है, न उसमें कोई बदलाव कर सकता है । वह पण्डावाद जिसको खोलकर यों कहा जा सकता है कि हमने धर्म और कानून की कितानों को हट से ज़्यादा सही समझ रखा है और यह भी समझ रखा है कि वह हर वक्त, हर मुल्क में हमेशा

हमारी ठीक-ठीक रहनुमाई करती रहेगी, क्योंकि हमने यह मान रखा है कि वह ईश्वर वा ईश्वर जितने जबरदस्त आदमी को कही हुई, लिखी हुई, वताई हुई हैं और यह कि उनको ठीक-ठीक पण्डे ही समझ सकते हैं। यह सब भी अगर हमने आजादी से समझा होता तब भी हरज न था, पर इतना भी समाज ने अपनी चालाकी से अपने सुभीते के लिए हमारे दिल पर बचपन में ही ऐसा उकेर दिया है जैसे कोई पत्थर पर लोहे की कील से उकेर दे। यह मिटाना मुश्किल है, पर मिट सकता जरूर है। यह खयाल दूर किये बगैर असली सुख का पता हमको न मिल सकेगा। दो काम के लिए तो हमको समाज से छुटकारा पाना ही होगा। उतनी आजादी के बगैर हम एक कदम भी आगे नहीं बढ़ सकते। वह दो बातें हैं—(१) चाल-चलन से ताल्लुक रखने वाले सब कामों का मोल हम तय करेंगे। (२) और अपने मोल पर काम करने और काम चलाने के पूरे इखितयार और पूरी ताकत चाहेंगे। हम पैदाइशी बदनीयत नहीं हैं। समाज की सोहबत से बदनीयत बने है। समाज ने भी हमको जान-बूझकर बदनीयत नहीं बनाया, पर अपनी नाममभी से हमको मुनासिब आजादी न देकर बदनीयत बना दिया है। हम जब नेकनीयत से एक बात सोचते हैं और फिर उम पर अमल करते हैं तो समाज हमको रोकता और सजा देता है तो हम बदनीयत बन जाते हैं या फिर बागी हो उठते हैं। नेकनीयत से सोचने के काम भी जब हम नहीं कर पाते तब सुखी कैसे हो सकते हैं ? और इस सुख की खातिर तो हम मञ्चल अटेंगे और समाज के खिलाफ बगावत पर उतारू हो जायेंगे।

आदमी में मिज्ञ बैठने नाम की एक खासियत है। चाल-चलन उभी खासियत की हालत या हालतों का नाम है। जैसे पानी में प्यास बुझाने, टण्डक पहुँचाने के नाम की खासियत है—पर बहना, जमना, हवा बन जाना उसका चलन है। खासियत, याने गुण अटल होते हैं। पर चलन हमेशा बदलता रहता है। चलन शब्द ही आप वह रहा है कि मुझे चलने और बदलने दो। खासियत और चलन दोनों मिलकर ही जान बहलते

जवानो !

है। चलने को अगर अलग माना जाय, जो असल में है नहीं, और उसकी कोई सिफत (बोल या परिभाषा) तय की जाय तो वह होगी, 'जो हर छुन बदलता रहे वह चलन' मतलब यह कि चाल-चलन के कायदे बदलते रहने चाहिए। पर समाज है कि उनको बदलने ही नहीं देता। आज की रूढियों के पास आज ठिके रहने की कोई काबलियत नहीं है। उनका यह हाल है कि वह आप ही आपस में टकराती है। ईश्वर की इच्छा जैसे मानी नहीं जा सकती, ठीक वैसे ही चाल-चलन के मामले में प्रकृति की इच्छा भी समझी नहीं जा सकती। चाल-चलन के अटल नियम न धर्म-शास्त्र रख सकते हैं और न साइन्स तैयार कर सकती है। हवा बदलने पर चाल-चलन बदलेगा ही, जैसे पानी गरमी में उड़ेगा ही और सर्दी में जमेगा ही।

पानी अगर बहते रहकर यह समझता है कि वह बेगुनाह है तो भूल करता है और अगर जमकर या उडकर यह समझता है कि वह गुनाह करता है तो भी भूल करता है। ठीक इसी प्रकार आदमी अपने को गुनहगार समझकर उतनी ही भूल करता है जितनी अपने को बेगुनाह समझकर। भडकिये नहीं ! बात यह है कि चाल-चलन के मामले में जमीर यानी अन्तरात्मा एकदम खामोश रहता है, तभी तो बच्चा बेगुनाह कहा गया है। बच्चे का अन्तरात्मा बच्चे को कभी गुनहगार नहीं समझता, भले ही वह अपना पेशाब भी पी ले या कोई गलीज चीज मुँह में रखले। उसकी बाहरी आत्मा ने चाल-चलन का न अभी खुद ही मोल लगाया है और न समाज के लगाये मोल को माना है। कोई काम ऐसा है ही नहीं जो अपने-आप में पूरा नेक या पूरा बढ हो। फिर अन्तरात्मा खामोश न रहे तो क्या करे। अब सुख इसी में है कि हम अपने कामों का आप ही मोल लगाएँ।

दुनियाँ दिन-दिन नहीं, दिन के ही घण्टों में कई बार बदलती है। शाह अमातुल्ला की बेगम सुरैया घुरके में मोई थी और बे-घुरके उठी थी। दकों में तो सारे मुल्क की औरतों के परदे की कायापलट एक रात

मे हो गई थी। और बिहार के जलजले में क्या हुआ था ! बिहार में जिन औरतो ने अपने चाल-चलन का अपने-आप मोल अँका वे बच गई और जिन्होंने समाज के मोल को ठीक समझा वे मिट्टी में टबकर मिट्टी बन गई। जो यह समझता है कि उसका हर एक काम वैसा होता है जैसा पहले कभी हुआ ही नहीं, उसको अपने कामों का मोल अँकना सीखना ही पड़ता है।

अब यह पता चल गया कि रूढ़ि किसे कहते हैं और समाज क्या मंत्र फूँककर हमें अपने काबू में करता है।

रूढ़ि चाल-चलन का वह तरीका या कायदा है जो यह कहता है कि किसी का कोई काम अनोखा नहीं होता। सब काम हमेशा वैसे ही होते हैं जैसे होते आये हैं और आगे भी वैसे ही होते रहेंगे। समाज का मन्त्र यह है कि दुनिया हमेशा से एक ही चाल पर चल रही है और चलती रहेगी, उसमें कोई बदलाव नहीं होता। समाज ने रूढ़ि के जरिये यह तय कर दिया है कि यह काम बुरा, इसकी सजा मिलेगी यत्तुम खुद ही सजा ले लो। पर सचार्इ इसके खिलाफ है और साइंस गवाह है। सचार्इ यह है कि काम काम के सिवाय कुछ नहीं। वह अपने-आप में अच्छा बुरा कहा जाता है। नतीजे को या फिर नीयत को कोई देख-सुन नहीं सकता और जान भी नहीं सकता। उसको करने वाला ही जानता है। यही वजह है कि समाज के बताये हुए बहुत-से बुरे कामों का नतीजा अच्छा होता देखा जाता है और उस ही के बताये बहुत-से भले कामों का नतीजा वेहद बुरा निकलता पाया गया है। दोनों की मिसालें वेहद हैं, सब जानते भी हैं, मिसालों का देना बेकार है।

ज्ञान चिल्ला-चिल्लाकर कह रहा है, 'समझदारी से काम लो, पर ना-समझ जनता रूढ़ि के चाल-चलन से चिपकी हुई है और समझदारी के कान बन्द किये हुए है। जिनके हाथ में समाज है, उन पण्डों में से बहुत-से जो नासमझ हैं, वह तो रूढ़ियों को ठीक समझते हैं और उनको जनता की तरह ही मानते हैं। पर जो पण्डे समझदार हैं और जो खुद रूढ़ियों को न ठीक

जवानो !

समझते हैं और न उनको काम में लाते हैं, वह लालच में फँसे रूढ़ियों को ठीक बताते हैं और जनता को बहकाते हैं। यो रूढ़ियों जिन्दा है और समाज आगे बढ़ने से रुका हुआ है।

रूढ़ियों एक ही लकड़ी से सबको हॉकती है। इनमें न उम्र की तमीज और न अक्ल की। मिसाल के लिए, पाँच वरस के दुलहे को ऐसे ही सजाया जायगा जैसे २५ वरस के जवान को या ६० वरस के वूढ़े को। और तीनों जानवर बने कान-पूँछ हिलाए बिना सज लगे। भले ही उनका जमीर अन्दर से उनको कोचता रहे ! मजबूत कमजोर तक का ख्याल वहाँ नहीं है, गरीब अमीर का तो ख्याल ही कौन करता ! इसका तो यह मतलब हुआ कि हम बच्चे से जवान होकर बदलते ही नहीं है और न अपढ़ को पढा-लिखाकर बदला जा सकता है। फिर गरीब से पैसे वाले होकर तो हममें कोई फर्क आ ही कैसे सकता है ! इतनी गलत बात जिस पर ज़रा भी अक्ल पर जोर देने की ज़रूरत नहीं, हमको क्यों गलत नहीं दिखाई देती ? हम कैसे मान लें कि हम हम नहीं है ? कौन नहीं मानता कि वह अपनी उम्र में कितनी बार ऐसा बदलता है कि उसको अपने पर भी शक होने लगता है कि क्या यह वही है जो बचपन में था या जवानी में था ? फिर भी वह उन रूढ़ियों को क्यों ठीक समझता है जो बचपन और जवानी में एक ही रहती है, या गरीबी-अमीरी में विलकुल नहीं बदली ? रूढ़ियों हमारी समझ का मजाक उड़ाती है और हम समझ से काम लेना नहीं चाहते। समाज के दबाव से या अपनी कमजोरी से यह हम कभी नहीं कर सकते कि समझ को नासमझी के असूल समझा दे। पानी आग की गर्मी अपनाकर जैसे फफोला ही डालेगा वैसे ही समझ नासमझी की बेवकूफी अपनाकर ठोकरें ही खायगी और कदम कदम पर जिन्दगी को दुखी बनाएगी। हमको अपने जमीर को ऐसा बनाना होगा कि वह उन क्रायटो को नहीं मानेगा जो छोटे-बड़े में तमीज ही नहीं करते। वह बड़ों के साथ उन रस्मों को हरगिज ठीक न समझेगा जो छोटी के साथ की जाती है। वह उन रस्मों को हरगिज न मानेगा जो अब से कुछ वर्ष पहले जैसे काम में आती थीं वैसे ही आज आती हैं और

उनमें कोई बदलाव नहीं हुआ है। उन रूढ़ियों को बेकार समझेगा जो पंजाब और बंगाल में एक ही तरह काम में आती है। खुलासा यह कि चाल-चलन ऐसा ही ठीक समझा जायगा जो उम्र, अक्ल, तन्दुरुस्ती, वक्त, मुल्क वगैरह के लिहाज से बदलने की काबलियत रखता हो। जब यह साफ देखने में आता है कि जो काम एक के लिए बेहद बुरा है वह दूसरे के लिए बेहद अच्छा है और यह कि जो एक उम्र में बेहद बुरा वह दूसरी उम्र में बेहद अच्छा है, तब क्यों रूढ़ियों से चिपटा जाये और उनकी बेजा इज्जत की जाये।

रूढ़ियों को टुकराने का डर नहीं, तो रूठाने का डर क्यों ?



